महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित
श्रीभागवत विवृति

सुबोधिनी

हिन्दी भावानुवाद

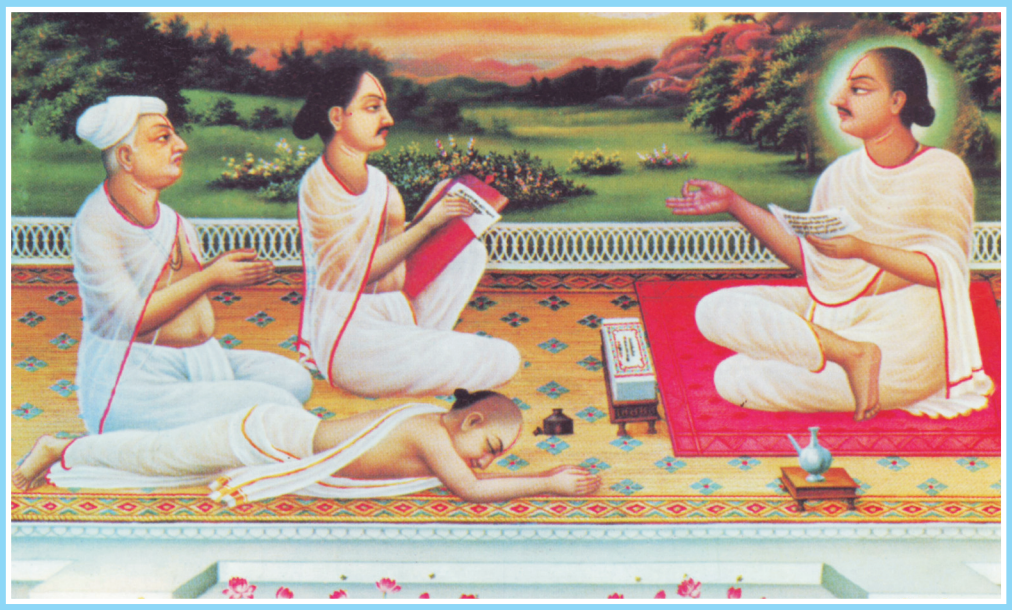

दशमस्कन्ध

सात्त्विक फल प्रकरण

(अध्याय ७५–८१)

खंड १३/ख

सात्विक फल प्रकरण

अध्याय ७५

दन्तवक्र और विदूरथका उद्धार तथा बलरामजीके हाथसे सूतका वध

बलभद्रस्य सत्कीर्तिः अध्यायद्वितयेन हि।
निरूप्यते ऋषिप्रोक्ता येनासौ सुस्थिरीभवेत्।।कारि.१।।

कारिकार्थ : ऋषियोंकी कही हुई, बलभद्रकी सत्कीर्ति दो अध्यायोंसे निरूपण की जाती है. ऋषियोंने इसकी कीर्तिकी प्रशंसा की है जिससे इसकी कीर्ति पृथ्वी पर अच्छी तरह स्थिर होगी।।१।।

तीर्थाभिषेकाद् यज्ञाच्च ज्ञानस्याप्युपदेशतः।
कीर्तिर्जातानुभावाच्च माध्यस्थ्याच्चेति वर्ण्यते।।कारि.२।।

कारिकार्थ : तीर्थोंके अभिषेकसे, यज्ञ करनेसे, अपने प्रभावसे और ज्ञानके उपदेश करनेसे भी कीर्ति बढ़ती है, भीम और दुर्योधनके युद्धके समय, बलरामजी मध्यस्थ थे, उस समय भी आपने सत्य निर्णय दिया कि 'तुम दोनों तुल्य बलवाले हो' दुर्योधन जामाता थे तो भी इसका पक्ष नहीं लिया इस सत्य निर्णयसे भी आपकी कीर्तिका सर्वत्र फैलाव हुआ है जिसका वर्णन किया जाता है।।२।।

विजयोऽयं यथा रामः ततोऽध्याये निरूपितः।
रामस्य कीर्तिरूपे च तद्भ्राता च तथाविधः।।कारि.३।।

कारिकार्थ : बलरामजीकी कीर्तिका जिस अध्यायमें निरूपण हुआ है उसमें दन्तवक्रकी[१] कथा भी कही है, जिसका कारण यह है कि जैसे बलराम[२] वैसे वह भी भगवान्का दास ही है और उसके भ्राता विदूरथ भी भक्त हैं, बलराम भक्त है, अतः उस(बलराम)की कीर्ति भगवान्की ही कीर्ति है।।३।।

अतो भगवतो भृत्याः त्रय एकत्र रूपिताः।।कारि.३॥।।

कारिकार्थ : तीन ही भगवान्के भक्त हैं, इस कारणसे तीनोंका ही वर्णन एक स्थान पर किया है।।३॥।।

१. दन्तवक्र 'विजय' नामक पार्षद है.

२. बलराम, 'शेष' रूपसे दास भृत्य है, दन्तवक्र 'विजय' नामक पार्षद होनेसे दास है.

कारिकार्थ समाप्त.

आभासार्थ : पहले दन्तवक्रका वध इसलिए निरूपण करते हैं कि भगवान्‌को यहां ही क्रियाशक्ति समाप्त कर देनी है, आगे क्रियाशक्तिसे कार्य नहीं लेना है, दन्तवक्र भी भक्त है, इसलिए भगवान्‌को उसकी मुक्ति करनी है. मुक्ति करना भगवान्‌के अवतार होनेका प्रयोजन है. जिसका निरूपण करते हैं. पूर्व अध्यायके अन्तमॄ दन्तवक्रके आनेका कहा है, अब वह क्यॄ आया? और किस प्रकार आया जिसका यहां विस्तारसे निरूपण किया जाता है.

श्रीशुक उवाच

शिशुपालस्य शाल्वस्य पौण्ड्रकस्यापि दुर्मतिः।
परलोकगतानां च कुर्वन् पारोक्ष्यसौहृदम्।।१।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे, शिशुपाल शाल्व और पौण्ड्रक, इनके मर जाने पर परोक्षमॄ अपना सुहृदयपन बतानेकेलिए (दुर्मति दन्तवक्र आया)।।१।।

व्याख्यार्थ : जैसे स्त्री पतिके मरने पर स्वयं भी परोक्षमॄ पातिव्रत्य दिखानेकेलिए मरती है, वैसे ही यह भी अपने मित्र शिशुपाल आदिके मर जाने पर अपना मित्रत्व दिखानेकेलिए मरनेकेलिए ही आया. यद्यपि इसके मरनेसे उनका कोई उपकार नहीं होगा तो भी, मूर्ख दुर्मति होनेसे यॄ करने लगा. वहां उनमॄसे शिशुपाल राजस है, दन्तवक्र तामस है, पौण्ड्रक सात्त्विक है, इस प्रकारके बहुत ही 'अपि' शब्दसे लिए गए हैं. पतिव्रता तो दुर्गतिको जो प्राप्त हुए हैं उनको तारनेकेलिए मरती है, यदि यॄ कहते हो, तो यह भी परलोक गए हुए मित्रॄकेलिए ही मरनेकेलिए आया है. वे तो दुर्गतिको प्राप्त नहीं हुए हैं, किन्तु भगवान्‌के हस्तसे मरनेसे उनका परलोक तो सिद्ध हो गया है. 'च' पदसे यह बताया है कि जो नहीं गए हैं वा जो मुक्त हुए हैं उन्हॄने सौहृद ही जाना है उनका सुकृत ही होगा. किञ्च प्रकृत प्रकरणमॄ उसका अभाव है तो भी यह मरनेकेलिए आया है, जिसका कारण बताते हैं कि 'पारोक्ष्यसौहृदम्' परोक्षमॄ भी मित्रताका धर्म पालन करता हूं यॄ सिद्ध करनेकेलिए ही आया है।।१।।

आभासार्थ : 'एकः पदाति' श्लोकमॄ किस प्रकार आया है वह कहते हैं.

एकः पदातिः संक्रुद्धो गदापाणिः प्रकम्पयन्।

पद्भ्यामिलां महाराज महासत्त्वो व्यदृश्यत ।।२।।

श्लोकार्थ : इकल्ला, प्यादल(पैदल) महान् बलिष्ठ, हाथमृ गदा धारण किये, पांवृसे भूमिको कंपाता, महान् क्रोधसे युक्त दुर्मति दन्तवक्र देखनेमृ आया।।२।।

व्याख्यार्थ: जब मरना ही इच्छित है तो सहायकृकी कौनसी आवश्यकता है? अतः अकेला ही आया, उस पर भी प्यादल आया, मनमृ क्रोधका जोश न होवे तो कदाचित्(शायद) लौट जाए इस पर कहते हैं कि महान् क्रोधसे पूर्ण होकर आया था, इसलिए लोटनेका विचार करना ही व्यर्थ है. शीघ्र मरनेकेलिए युद्ध सामीप्यमृ होता है, अतः गदा ले आया जिससे युद्ध समीप हो, तो भी भगवान् न मारे, इसलिए पृथ्वीको पैरृसे कम्पाता हुआ आ रहा था. हे महाराज! इस सम्बोधनसे यह सूचित किया है कि भगवान् ऐसेका भी वध नहीं करते हैं, 'महासत्त्व' विशेषणसे यह बताया है कि महान् बलिष्ठ होनेके कारण ही युद्धकेलिए प्रवृत्त हुआ है।।२।।

आभासार्थ : पश्चात् भगवान्ने विचार किया, कि धर्मयुद्ध करना चाहिए, इसलिए आप भी वैसे ही हुए वह 'तं तथा' श्लोकसे कहते हैं.

तं तथायान्तमालोक्य गदामादाय सत्वरः।
अवप्लुत्य रथात् कृष्णः सिन्धुं वेलेव प्रत्यधात्।।३।।

श्लोकार्थ : इस तरह आते हुए उस(दन्तवक्र)को देख भगवान् शीघ्र ही रथसे उतर कर गदा ले जैसे वेला(तट या किनारा) समुद्रको, वैसे उसको रोका।।३।।

व्याख्यार्थ : 'सत्वर' शब्दसे यह बताया है कि आनेसे कोई क्लेश नहीं हुआ. भगवान्ने उसको देखा, देखनेके बाद कुछ भी देरी नहीं की. यह दिखानेकेलिए कहा, कि देखते ही रथसे उतर पड़े, क्यृकि इस समय कृष्ण कालरूप थे, अतः सर्व यादवृके नाश वास्ते प्रवृत्त उस(दन्तवक्र)को ऐसे रोक लिया जैसे समुद्रको वेला(तट या किनारा) रोकती है।।३।।

आभासार्थ : भगवान् शीघ्र आए, कदाचित् इसको शाल्वका यह कोई पदाति(पैदल) है, यृ समझ मुक्ति न देवृ, इसलिए अपने प्रयोजनके स्वरूपृका निर्देश करते हैं 'गदामुद्यम्य' श्लोकमृ.

गदामुद्यम्य कारूषो मुकुन्दं प्राह दुर्मदः।

दिष्ट्या दिष्ट्या भवानद्य मम दृष्टिपथं गतः ।।४।।

श्लोकार्थ : मदोन्मत्त दन्तवक्र गदा उठाकर भगवान्को कहने लगा कि तूं आज मेरी दृष्टिमृ आया वह बहुत अच्छा हुआ।।४।।

व्याख्यार्थ : वह(दन्तवक्र) करूष देशका अधिपति है, मुकुन्द(मोक्ष देनेवाले)को कहने लगा, अपने अधिकारको दिखानेकेलिए अथवा अपना द्वारपालकपन प्रसिद्ध करते हुए अपनेको अधिकारी बताना था, जिससे स्नेहसे ही सायुज्य पानेके योग्य था किन्तु मदोन्मत्त होनेसे गदा उठाकर सामने आया जिससे समझा जाता है कि स्नेह नहीं, किन्तु विरोधसे सायुज्य पाना चाहता है, अतएव विरुद्ध शब्द कहने लगा कि 'दिष्ट्या-दिष्ट्या' इतना अर्थ दोनृ तरफ समान है, मेरे भाग्यसे मेरे दृष्टिपथ पर आ गए, जिसको मैं मनोरथ कर ढूंढ रहा था वह आप सामने आ गए यह मेरा भाग्य ही है।।४।।

आभासार्थ : अपनेको प्रकट करता हुआ भगवान्से सम्बन्ध बताता है 'त्वं मातुलेयो' श्लोकमृ.

त्वं मातुलेयो नः कृष्ण! मित्रध्रुङ् मां जिघांससि।
अतस्त्वां गदयामन्द हनिष्ये वज्रकल्पया ।।५।।

श्लोकार्थ : हे कृष्ण! तुम हमारे मामेके पुत्र हो और मित्रद्रोही भी हो. हे मन्द! मुझे मारना चाहते हो, इसलिए मैं वज्र जैसी इस गदासे तुझे मारूंगा।।५।।

व्याख्यार्थ : तुम हमारे अर्थात् शिशुपाल आदिके मामेके पुत्र हो, कृष्ण! यह सम्बोधन स्नेहके कारण दिया है. 'मित्रध्रुङ्' मित्रसे द्रोह किया है यृ कह कर उपालम्भ(ताना) दिया है, वास्तवमृ तो इस पदके कहनेके भाव यह हैं कि 'कृष्णमित्राणि द्रोग्धि' इति कृष्ण मित्रध्रुक् अर्थात् सर्वके सखा तथा शिक्षक हो अतएव मुझे मारते हो, मैं भी कृष्णका मित्र हूं इसलिए बिना अपराधके तो नहीं मारृगे, इसलिए पहले मैं अपराध करूंगा(करता हूं) इस वास्ते तुझे वज्र समान गदासे मारूंगा, अर्थात् प्राप्त करूंगा. जैसे वृत्रने वज्रसे तुझे प्राप्त किया, 'मन्द'के स्थान पर 'अमन्द' पदच्छेद करना, हे अमन्द! हे सयाने! अर्थात् आप सब जानते हैं।।५।।

तर्ह्यानृण्यमुपैम्यज्ञ मित्राणां मित्रवत्सलः।
बन्धुरूपमरिं हत्वा व्याधिं देहचरं यथा ।।६।।

श्लोकार्थ : हे मूर्ख! देहमृ प्रेमवाला भी, देहमृ उत्पन्न रोगको नाश करता

है, तब स्वस्थ हो जाता है. वैसे ही मैं भी, मित्रमृ प्रेम होते हुए भी बंधुरूप शत्रुका नाश करूंगा, तब मित्रॄके ऋणसे उऋण होकर स्वस्थ हो जाऊंगा।।६।।

व्याख्यार्थ : जब यॄ होगा तब, जैसे भूतबलि देनेसे मनुष्य उऋण होता है वैसे ही मैं भी मित्रॄके ऋणसे उऋण बनूंगा. क्यॄकि मैं मित्र वत्सल हूं. तुम अमित्र वत्सल हो, कारण कि दैत्यॄ पर भी कृपा करते हो, अथवा मित्र वत्सल हो. क्यॄकि आप किसीको शत्रु नहीं समझते, सबको मित्र ही जानते हो. तूं क्या करके उऋण होगा? जिसके उत्तरमृ कहता है कि यह अपना देह बन्धुरूप दीखती है क्यॄकि हित करती है, वास्तविक तो 'सृष्ट्वास्य बीजम्' इस न्यायसे शत्रु है जिसको अपनाया गया है उसको कैसे मारा जाएगा, इसका उत्तर दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि 'व्याधिं देहचरं यथा' जैसे शरीरमृ उत्पन्न रोगको नाश किया जाता है वैसे ही अपनेपनसे अपनाया हुआ यदि शत्रु दुःखदायी होता है तो उसका भी नाश करना चाहिए यह स्तुति पक्षकी व्याख्या की, निन्दा पक्ष तो स्पष्ट है, मातुल पुत्र होनेसे बन्धुरूप है मारक होनेसे अरि है।।६।।

एवं रूक्षैस्तुदन् वाक्यैः कृष्णं तोत्रैरिव द्विपम्।
गदया ताडयन् मूर्ध्नि सिंहवद् व्यनदच्च सः ।।७।।

श्लोकार्थ : जैसे अंकुशॄसे हाथीको पीड़ित किया जाता है वैसे ही रूखे वचनॄसे श्रीकृष्णको पीड़ित करते हुए दन्तवक्रने श्रीकृष्णचन्द्रके शिर पर गदाका प्रहार किया बादमृ सिंहके समान गर्जना की।।७।।

व्याख्यार्थ : निन्दामृ रूखापन होता है, निन्दाके वाक्यॄसे मर्म स्थानॄको मानो तोड़ डालता था. कृष्णकी निन्दासे मानो स्तुतिसे दोषॄका नाश करता था. जैसे अंकुशके पृष्ठ भागसे हस्तीको शीघ्र गमनकेलिए प्रेरणा की जाती है, वैसे ही कृष्ण भी शीघ्र मारनेकेलिए तैयार हो जावे, इसलिए निन्दा आदि द्वारा प्रेरे जाते हैं. इस प्रकार वाणीसे अपराध कर कायिक अपराध करने लगा वह कहते हैं–गदा मस्तक पर सुषुम्णाके समीप लगाई अथवा ब्रह्मरन्ध्रका भेदन किया, पश्चात् सिंहके समान गर्जना करने लगा, कारणकि अपनेको कृतार्थ समझने लगा क्यॄकि वह पूर्व कहे हुए प्रकारसे भक्त अथवा शूरवीर है।।७।।

गदया निहतो वाऽऽजौ न चचाल यदूद्वहः ।।
कृष्णोऽपि तमहन् गुर्व्या कौमोदक्या स्तनान्तरे ।।८।।

श्लोकार्थ : गदाके लगने पर भी यदुश्रेष्ठ वहांसे विचलित न हुए,

श्रीकृष्णने भी कौमोदकी भारी गदासे उसकी छाती पर प्रहार किया।।८।।

व्याख्यार्थ : दन्तवक्रने इससे अपनेको कृतकृत्य समझा गदाके प्रहारसे क्रोध होगा, इससे प्रहारकी क्रूरता सूचन की है. 'यदूद्वहः' पदसे यह सूचन किया है कि श्रीकृष्णने अब यादव लीलाका स्वीकार किया है, इस प्रकार उसके अपराधका वर्णन कर, बादमृ उसके अपराधकी शान्तिकेलिए भगवान्की कृपाका वर्णन करते हैं कि 'कृष्णोऽपि' कृष्णने भी अपनी प्रसिद्ध कौमोदकी गदासे छाती पर प्रहार किया, प्रहारका साधन गदाका माहात्म्य बतानेकेलिए 'गुर्वी' विशेषण दिया है अर्थात् वह गदा बहुत भारी थी, ऐसी गदाके प्रहारसे मोक्ष होना तो प्रसिद्ध है ही. भगवान्की कृपासे मोक्ष तो हुआ किन्तु मरनेके समय जो षट्चक्र भेदनकी क्रियासे दुःख होता है वह भी दन्तवक्रको न होवे इसलिए भगवान्ने गदाका छाती पर प्रहार किया जिससे प्राण बिना क्लेशसे निकल कर मुक्त हो गया।।८।।

आभासार्थ : उसके अनन्तर जो कुछ हुआ वह 'गाढनिर्भिन्न' श्लोकमृ कहते हैं.

गाढनिर्भिन्नहृदय उद्वमन् रुधिरं मुखात्।
प्रसार्य केशबाहवङ्घ्रीन् धरण्यां न्यपतत् व्यसुः ।।९।।

श्लोकार्थ : गदाके लगते ही उसका हृदय फट गया और मुंहसे रुधिरको उगलते हुए वह दैत्य पृथ्वी पर केश, बाहु और पांव पसार कर प्राणहीन होते ही गिर पड़ा।।९।।

व्याख्यार्थ : मुंहसे रूधिर निकलनेका कारण यह था कि खून निकलनेके साथ उसके पाप[१] भी बाहर निकल रहे थे, पश्चात् दयाकी उत्पत्ति हो अर्थात् मुझ पर दया होवे इसी तरह व इसलिए केश, भुजा और चरण पसार कर वहां पृथ्वी पर स्थित हुआ, जहां भगवान्के चरणारविन्द थे प्राण निकल जानेसे वहां ही गिर गया जिससे आदिमृ वहां ही भगवान्से सायुज्य हो गया, द्वितीय पक्ष यह है कि अब भोगकी अपेक्षाका अभाव था, इसलिए प्राणृका त्याग कर दिया, अर्थात् सर्व कर्म भस्म हो जानेसे फिर प्राणृको प्राप्त नहीं करना था क्यृकि प्रभु कृपासे उसको भगवत्सायुज्यकी प्राप्ति हुई।।९।।

१.वाणीसे अपशब्द बोलनेसे जो दोष व पाप हृदयमृ उत्पन्न होकर रह गये थे वे सब नष्ट हो गये.

आभासार्थ : पश्चात् उसको सायुज्य मुक्ति प्राप्ति हुई, यह कहते हैं.

ततः सूक्ष्मतरं ज्योतिः कृष्णमाविशदद्भुतम्।
पश्यतां सर्वभूतानां यथा चैद्यवधे नृप ।।१०।।

श्लोकार्थ : हे राजन्! जैसे शिशुपालका तेज भगवान्मृ प्रविष्ट हुआ, वैसे दन्तवक्रका अति सूक्ष्म तेज भी सब लोगृके देखते हुए भगवान्मृ प्रवेश कर गया।।१०।।

व्याख्यार्थ : दन्तवक्रकी ज्योति 'कृष्णं' भगवान्के चरणारविन्दमृ जैसे शिशुपालके वधके समयमृ उसकी ज्योति दश दिशाओृको प्रकाशित करती हुई भगवान्मृ प्रविष्ट हुई, वैसे ही दन्तवक्रकी अत्यन्त सूक्ष्म ज्योति भी भगवान्के चरणारविन्दमृ प्रवेश कर गई, जिसके सब साक्षी हैं यृ बतानेकेलिए 'पश्यतां सर्वभूतानां' पद कहा है जिसका अर्थ है, सर्व प्राणियृके देखते हुए ज्योतिने भगवान्के पादकमलृमृ प्रवेश किया।।१०।।

आभासार्थ : उसकी सायुज्य मुक्ति देखकर उसका भ्राता विदूरथ भी यृ करने लगा, जिसका वर्णन 'विदूरथस्तु' श्लोकमृ करते हैं.

विदूरथस्तु तद्भ्राता भ्रातृशोकपरिप्लुतः।
आगच्छदसिचर्मभ्याम् उच्छ्वसंस्तज्जिघांसया ।।११।।

श्लोकार्थ : भ्राताके शोकसे व्याप्त, दन्तवक्रका भाई विदूरथ भगवान्को मारनेके विचारसे हांफता-हांफता ढाल तलवार लेकर आया।।११।।

व्याख्यार्थ : यहां अक्षरच्युत अलंकार है इसके नामसे ही इसका माहात्म्य प्रकट होता है, दूरसे ही जिसका रथ विकट दीखनेमृ आता है वह विदूरथ 'तद्भ्राता' उसका अर्थात् दन्तवक्रका भाई भ्राताके शोक नदमृ डूबा हुआ, ढाल तलवार ले हांफता हुआ आया, यृ कहनेसे, सर्पके समान क्रोधका निरूपण किया, क्यृ आया? तो कहते हैं कि 'तज्जिघांसया' उसको अर्थात् श्रीकृष्णको मारनेकी इच्छासे आया, यद्यपि भ्रममृ पड़नेसे व्याकुल था तो भी मारनेकेलिए प्रवृत्त हुआ।।११।।

तस्य चापततः कृष्णः चक्रेण क्षुरनेमिना।
शिरो जहार राजेन्द्र सकिरीटं सकुण्डलम् ।।१२।।

श्लोकार्थ : हे राजेन्द्र! इस विदूरथके आते ही श्रीकृष्णने तीक्ष्ण धारवाले चक्रसे, किरीट कुण्डल सहित इसका सिर काट डाला।।१२।।

व्याख्यार्थ : पश्चात् वह भृत्यका सम्बन्धी था, इसलिए आते ही अर्थात्

प्रहार करनेसे पहिले ही चक्रसे उसका शिर काट डाला, कैसे काटा? तो कहते हैं कि तीक्ष्ण धारवाले चक्रसे, याॄ कहनेसे यह बतलाया कि भगवान्ने यहां अपना अलौकिक सामर्थ्य प्रकट नहीं किया, 'जहार' दूर कर दिए अर्थात् धड़से दूर कर दिया. किरीट और कुण्डल सहित शिर कहनेसे उसका देवाधिष्ठानपन बताया, उससे मुक्तिकी योग्यता कही।।१२।।

आभासार्थ : मारे हुए सात्त्विक राजस और तामसॄके चरित्रकी 'एवं सौभं' श्लोकसे समाप्ति करते हैं.

एवं सौभं च शाल्वं च दन्तवक्त्रं सहानुजम्।
हत्वा दुर्विषहैरन्यैः ईडितः सुरमानवैः ।।१३।।

श्लोकार्थ : इस तरह सौभ, शाल्व, छोटे भाई समेत दन्तवक्रको और जो अजेय शूरवीर थे उनको भी साथमॄ मार डाला, तब देव और मनुष्य भगवान्की स्तुति करने लगे।।१३।।

व्याख्यार्थ : 'च' शब्द सेना परिग्रहकेलिए दिया गया है, शाल्वके साथ चकार दिया है जिसका आशय है कि उसके माया देवताका वर नाश करना था, विदूरथके साथ दन्तवक्र और जो अजय अन्य शूरवीर थे उनके साथ वे भी मारे गए, मार कर खड़े हो गए तब उनकी स्तुति की गई, उस प्रकार यहां यह क्रियाध्याहार भी होता है अथवा ऊपरके 'सुरैः मानवैश्च दुर्विषहैः अन्यैः' ये यादव वाचक भी हो सकते हैं।।१३।।

मुनिभिः सिद्धगन्धर्वैः विद्याधरमहोरगैः।
अप्सरोभिः पितृगणैः यक्षैः किन्नरचारणैः ।।१४।।
उपगीयमानविजयः कुसुमैरभिवर्षितः।
वृतश्च वृष्णिप्रवरैः विवेशालङ्कृतां पुरीम् ।।१५।।

श्लोकार्थ : मुनि, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, बडे-बड़े नाग, अप्सरा, पितृगण, यक्ष, किन्नर और चारण ये सब भगवान्की विजयको गा-गा कर फूलाॄकी वर्षा कर रहे थे, तब भगवान् यादवाॄके साथ शोभायमान पुरीमॄ प्रविष्ट हुए।।१४-१५।।

व्याख्यार्थ : भगवान्ने युद्धलीला समाप्त की, जिससे मुनि और सिद्ध आदिकोकाॄ सन्तोष हुआ जिससे, उन्हाॄने भगवान्के विजयको गाकर पुष्पाॄकी वर्षा आदिसे महती स्तुति की जिससे श्रोताआॄको युद्ध लीलामॄ अभिनिवेश होवे,

पश्चात् भगवान् अपनी पुरीमृ पधारे जिसका वर्णन करते हैं. यादवोत्तमाृसे घिरे हुए भगवान् उन दैत्याृको मारकर और देव मनुष्याृसे स्तुत होते हुए अलंकृत स्वपुरीमृ प्रविष्ट हुए. १.हत्वा २.स्तुतः ३.विवेश इन तीन क्रियाआृसे तीन गुण प्रकट किए।।१४-१५।।

आभासार्थ : भगवान्की क्रियाका उपसंहार करते हुए 'एवं योगेश्वरः' श्लोकमृ दोषाृका अभाव बताते हैं.

एवं योगेश्वरः कृष्णो भगवान् जगदीश्वरः ।
ईयते पशुदृष्टीनां निर्जितो जयतीति सः ।।१६।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार योगेश्वर व जगदीश्वर श्रीकृष्ण भगवान् सदा जय ही पाते हैं पर किसी समय पशु बुद्धि याृ प्रतीत करते हैं कि भगवान् जरासन्धसे हार गए।।१६।।

व्याख्यार्थ : 'योगेश्वर' विशेषणसे बताया है, कि जो योगभ्रष्ट थे उनको संसारसे उबार कर मुक्ति दी, यह एक प्रयोजन कहा. 'कृष्ण' पदसे दिखाया कि भूभारहरण कार्य किया, यह दूसरा प्रयोजन कहा, 'भगवान्' शब्दसे सामर्थ्य प्रकट किया, 'जगदीश्वर' कहकर यह सूचित किया है कि ये सब कार्य आपको ही करने हैं(थे) इस प्रकार क्रियाके करनेके हेतुआृको बताकर लौकिक बुद्धिसे जो हेतु कहे जाते हैं उनकी निन्दा करते हैं. जिनकी दृष्टि पशुआृ(मूर्खों-अज्ञाृ) जैसी हैं वे कहते हैं, कि देखा जाता है कि भगवान् कभी हार जाता है कभी किसीको जीतता है इस प्रकार दोनाृ तरहका कहना उनका है जो आगेपीछेका विचार करना जानते ही नहीं वे ही पशु हैं. अतः(क्याृकि) वे पुरुषोत्तम हैं, इसलिए किसी भी अंशसे अन्य भावको प्राप्त नहीं होते हैं, इस प्रकार तात्पर्य है, भगवान्का शस्त्र संन्यास अन्य पुराणमृ निरूपण किया है वह ही यहां उपसंहारसे भी सूचित किया है।।१६।।

आभासार्थ : इस प्रकार भगवान्की क्रियाशक्तिका उपसंहार कर 'श्रुत्वा युद्धोद्यमं' श्लोकमृ बलभद्रकी कीर्ति सिद्ध करनेकेलिए उनके धर्मकी क्रियाको कहते हैं.

श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः कुरूणां सह पाण्डवैः ।
तीर्थाभिषेकव्याजेन मध्यस्थः प्रययौ किल ।।१७।।

श्लोकार्थ : कौरव और पाण्डवाृके युद्धका उद्यम सुनकर मध्यस्थ बलदेवजी तीर्थ यात्राका मिष कर द्वारकासे रवाना हुए।।१७।।

व्याख्यार्थ : जहां अनर्थोंका नाश होता है और अनर्थोंका पूर्णतया त्याग करना ही प्रथम धर्म है, वहां भी उस मिषसे तीर्थों पर जाना ही चाहिए अतः युद्धका उद्यम सुनकर, श्रीकृष्ण तो पाण्डवॄके पक्षपाती हैं और मैं कौरवॄके पक्षमॄ हूं, इससे दोनॄमॄ विरोध जगेगा, इसलिए तीर्थ यात्राके मिषसे द्वारकासे निकले. वास्तवमॄ तीर्थ यात्रा करनेकी इच्छा न थी. द्वारकासे बाहर जानेका अन्य कारण न होनेसे इस मिषसे ही निकले. किसीकी तरफदारी न कर मध्यस्थ होकर सत्य कहूंगा यह मनमॄ विचार कर ही तीर्थोंकेलिए रवाने हुए, 'किल' निश्चयसे अर्थात् यह प्रमाण है. आप भगवान् हैं इसलिए जीवकी तरह तीर्थ करना भगवत्वसे विरुद्ध है. आपने यह स्वयं प्रकट न कह कर 'किल' शब्दसे हृदयमॄ यॄ कहा, यद्यपि मिषसे जा रहे थे किन्तु लोकमॄ तो ऐसी प्रतीति कराई।।१७।।

आभासार्थ : प्रभासतीर्थमॄ जाकर संकल्प कर वहांसे रवाने हुए यह 'स्नात्वा प्रभासे' श्लोकमॄ कहते हैं.

स्नात्वा प्रभासे संतर्प्य देवर्षि-पितृ-मानवान्।
सरस्वतीं प्रतिस्रोतं ययौ ब्राह्मणसंवृतः ।।१८।।

श्लोकार्थ : बलदेवजीने प्रभासमॄ स्नान किया और देव, ऋषि तथा पितर एवं मनुष्यॄको तर्पण आदिसे तृप्त किया, अनन्तर ब्राह्मणॄको साथमॄ लेकर सरस्वती नदीके प्रवाहके सन्मुख चले।।१८।।

व्याख्यार्थ : भगवान्ने सात्त्विक प्रकरणमॄ प्रवृत्त्यात्मक धर्म कहा है, वह यज्ञ और तीर्थ हैं. जैसाकि कहा है कि 'यज्ञस्तीर्थानि च पुनः समानि हरिणा कृताः' हरिने यज्ञ और तीर्थ दोनॄ समान किए हैं. वसुदेवजी जीवित हैं, इसलिए पुत्रॄको यज्ञ करनेका जैसे अधिकार नहीं वैसे तीर्थ करनेका भी अधिकार नहीं है. राजसूय यज्ञ हुआ, उसमॄ भगवान्ने सहायता की है. बलभद्रजी तीर्थोंको भी यज्ञके समान समझते हैं तो फिर उनके करनेमॄ प्रवृत्त क्यॄ हुए? तो कहते हैं कि यद्यपि यॄ तीर्थयात्रा मिषसे करनी पड़ी है, वह यात्रा धर्मरूप न होगी, किन्तु भगवान् तीर्थयात्रा करनेका पीछे निमित्त उत्पन्न कर लॄगे, यदि भगवान् निमित्त न बनावॄ तो अनधिकारीका किया हुआ कर्म न करनेके समान है इसलिए वह धर्म नहीं हो सकता है. प्रभासमॄ अग्निकुण्डमॄ अथवा संगममॄ स्नान कर, पश्चात् देव, ऋषि, पितर और मनुष्यॄको ब्राह्मण भोजन आदिसे तृप्त कर सरस्वतीके किनारे-किनारे चलते स्रोतके सम्मुख जैसे हो वैसे जाने लगे, ब्राह्मणॄको साथमॄ लिया था क्यॄकि

बिना ब्राह्मणकी आज्ञाके तीर्थ कर्मकी सम्पूर्णता नहीं होती है।।१८।।

पृथूदकं बिन्दुसरः त्रितकूपं सुदर्शनम्।
विशालं ब्रह्मतीर्थं च चक्रं प्राचीं सरस्वतीम्।।१९।।

श्लोकार्थ : पृथूदक, बिन्दुसर, त्रितकूप, सुदर्शन, विशाल ब्रह्मतीर्थ, चक्रतीर्थ, प्राची सरस्वती।।१९।।

व्याख्यार्थ : यद्यपि प्रवाहके सामने किनारे-किनारे जाते हुए पृथूदक आदि तीर्थ क्रमशः नहीं हैं, तो भी तीर्थ माहात्म्यको लेकर उनकी गणना की है, अथवा उस कल्पमें इस प्रकार तीर्थ हुये, पृथूदक आदि छः तीर्थ सर्वत्र प्राची सरस्वतीके किनारे पर हैं, प्राची सरस्वतीका आशय यह है कि जो सरस्वती प्लक्षसे उत्पन्न हुई है।।१९।।

यमुनामनु यान्येव गङ्गामनु च भारत।
जगाम नैमिषं यत्र ऋषयः सत्रमासत।।२०।।

श्लोकार्थ : (उन तीर्थोंके अनन्तर) यमुनाके तटके प्रवाहानुकूल चलते हुए जो तीर्थ आए उनमें घूमते-घूमते गंगाके प्रवाहके अनुसरण करनेवाले तीर्थोंमें होते हुए नैमिषक्षैत्रमें आए जहां ऋषि लोग सत्र कर रहे थे।।२०।।

व्याख्यार्थ : पश्चात् यमुना पर पहुंच अनुस्रोतन्यायसे प्रयागमें आए, अनन्तर गंगाके बाद हरिद्वार अथवा बद्रिकाश्रम तक गए, बादमें फिर गोमती तटसे नैमिषारण्य पहुंचे, वहां समय विशेष लग जानेका कारण यह था कि ऋषि लोगोंने कोई सत्र प्रारम्भ किया था।।२०।।

आभासार्थ : पश्चात् जो हुआ वह 'तमागतम्' श्लोकसे कहते हैं.

तमागतम् अभिप्रेत्य मुनयो दीर्घसत्रिणः।
अभिनन्द्य यथान्यायं प्रणम्योत्थाय चार्चयन्।।२१।।

श्लोकार्थ : दीर्घ सत्र करनेवाले मुनि लोग उनको आए हुए देखकर पहिले क्षत्रियानुरूप अभिनन्दन करने लगे, पश्चात् भगवान् जानकर शास्त्रानुसार प्रणाम कर खड़े हो पूजा करने लगे।।२१।।

व्याख्यार्थ : मुनि यह सोचकर आगे हमको ज्ञानका उपदेश प्राप्त होगा, इस प्रकारके ज्ञानवाले थे, इस कारणसे ही उस उपदेश प्राप्तिकेलिए दीर्घ कालका सत्र प्रारम्भ किया था, अतः उनके आनेका अभिनन्दन कर, नीतिके अनुसार उत्तम क्षत्रियके आने पर जैसा करना योग्य था वैसा किया, पश्चात् भगवान् हैं इस

बुद्धिसे प्रणाम कर खड़े हो पूजा करने लगे।।२१।।

आभासार्थ : मुख्य स्वामीके अभिप्रायको बिना जान लेनेके और भगवत् शास्त्रके विचार किये बिना वे(बलभद्र) मिषसे यात्रा करने चले थे. स्मृति न्यायानुसार धर्मको भी अधर्म समझा, धर्म स्थान पर अधर्म करना योग्य नहीं है, इसलिए उनके सत्कारके फलकी सिद्धिकेलिए मानो उपकार करता हुआ सूतका निराकरण करनेकेलिए उसको देखने लगे, यह 'सोऽर्चितः' श्लोकमू कहते हैं.

सोऽर्चितः सपरीवारः कृतासनपरिग्रहः।
रोमहर्षणमासीनं महर्षेः शिष्यमैक्षत।।२२।।

श्लोकार्थ : परिवार(साथ आए हुए ब्राह्मणू) सहित बलदेवजीका पूजन किया, पश्चात् आसन आदि दिया, महर्षिके शिष्य रोमहर्षण नामवाले सूतको बलरामने उच्च आसन पर बैठा हुआ देखा।।२२।।

व्याख्यार्थ : मुनियूने बलरामजीका ब्राह्मण सहित पूजन आदि कर आसन आदि बिराजनेकेलिए दिए, किन्तु बलरामजीने वहां देखा तो महर्षिका शिष्य, रोमहर्षण नामवाला सूत ब्राह्मणूके सामने उच्चासन पर बैठा है, यह न आयुसे बालक है और न विद्यासे भी बालक है क्यूकि महर्षिका शिष्य है, उसकी स्थिरता, उपदेश करनेकी योग्यता और अभिमान देख निम्न वचन कहने लगे।।२२।।

आभासार्थ : यह सूत जो कर रहा है वह स्मृतिशास्त्रूके विरुद्ध कर रहा है, इसलिए बलदेवजी क्रोध करने लगे, यह 'अप्रत्युत्थायिनं' श्लोकमू कहते हैं.

अप्रत्युत्थायिनं सूतम् अकृतप्रह्वणाञ्जलिम्।
अध्यासीनं च तान् विप्रान् चुकोपोद्वीक्ष्य माधवः।।२३।।

श्लोकार्थ : वह सूत जातिका होकर उन सब ब्राह्मणूसे उच्च आसन पर बैठा था, बलदेवजीके पधारने पर न खड़ा हुआ, न हाथ जोड़े और न प्रणाम किया जिससे बलदेवजीको क्रोध उत्पन्न हुआ।।२३।।

व्याख्यार्थ : सूतको जो दण्ड मिला, उसमू हेतु ब्राह्मणूका अतिक्रम करना ही है, ब्राह्मणूने एकप्रकारसे ही उसका दोष अंगीकार किया, उसको मात्सर्य पैदा न हुआ, अतः न उठना ही हेतु माना जाता है.

अगर किसी भी प्रकारसे इसका महत्त्व हो गया है तो भी क्या यह ब्राह्मणूसे उत्तम हो सकता है? जब ब्राह्मण अभ्युत्थान आदिसे सत्कार करते है

तब इसको यॄ करनेमॄ कौनसा सन्देह था? अतः इसमॄ धर्म नहीं रहा है, क्यॄकि धर्ममार्गके ज्ञानका इसमॄ अभाव ही है. इस कारणसे पाषण्ड होने पर किसी लोभ आदिसे पुष्ट जो धर्म दीखता है वह धर्म नहीं है किन्तु धर्माभास ही है, जिससे ही गर्व उत्पन्न हुआ है अतः वह पाषण्ड धर्म, हानिकारक ही हुआ है. उसमॄ जो धर्म है वह पाषण्डी है इसलिए बलदेवजी क्रोध करने लगे, 'सूत' है इसलिए प्रथम दोष जातिसे भी हीन है, फिर नमस्कार आदि कुछ नहीं किया. दूसरा दोष व्रतमॄ स्थित हो तो भी उसको इतना करना ही चाहिए. तीसरा दोष दिखाते हैं कि उत्तम ब्राह्मणॄके सामने उच्च आसन पर बैठा है, जिससे दिखाया है कि ब्राह्मण हीन हैं मैं उत्तम हूं, जब यॄ है तो वे उत्तम ब्राह्मण चुपकर क्यॄ बैठे हैं? वे विप्र हैं, सबका हित करनेवाले सबके सुहृद हैं, अतः उनका मौन दोषकेलिए नहीं है, आप स्वयं दण्ड देनेके अधिकारी हैं, इस कारणसे ही क्रोधका युक्ति युक्त हेतु कहा है, मधुवंशमॄ उत्पन्न हुए हैं।।२३।।

आभासार्थ : उसके आलोचना दर्शनका वर्णन करते हैं.

कस्मादसाविमान् विप्रान् अध्यास्ते प्रतिलोमजः।
धर्मपालान् तथैवास्मान् वधमर्हति दुर्मतिः ।।२४।।

श्लोकार्थ : यह प्रतिलोम जातिमॄ उत्पन्न सूत, ब्राह्मणॄके और धर्मपाल हम लोगॄके सामने ऊंचे स्थान पर स्थित आसन पर कैसे बैठा है? अतः यह दुर्मति वध करनेके ही योग्य है।।२४।।

व्याख्यार्थ : 'असौ' पदसे यह कहा है कि इसमॄ किसी प्रकारका कोई तेज नहीं है. 'इमान् विप्रान्' पदसे सूचित करते हैं कि ये ब्राह्मण सर्व सुहृद् हैं अतः इनमॄ तेजका दर्शन हो रहा है. यॄ भी नहीं है कि यह भी महान् है किन्तु प्रतिलोम जातिका होनेसे निम्न कक्षाका है. यॄ कह कर यह बताया है कि इसमॄ विशेष ज्ञान है इसलिए बिठाया है, इस पक्षका भी निराकरण किया है. अर्थात् विप्रॄमॄ ही ज्ञानसे बड़प्पन होता है, धर्म पालकॄका वैसे ही हम लोगॄका भी इसके मनमॄ भय वा आदर नहीं है. जिसका सारांश है कि इसको इस लोकका और परलोकका भी भय नहीं है. ऐसी हालतमॄ इसका दण्ड वध ही है अर्थात् मारनेके योग्य है. यदि कहो कि मारते क्यॄ हो? इसको ज्ञान देकर समझाओ उसका उत्तर देते हैं, कि यह दुष्ट बुद्धिवाला है अतः समझाने पर भी मानेगा नहीं।।२४।।

आभासार्थ : इसने वृद्धॄकी सेवा कर अनुभव प्राप्त नहीं किया है अतः

इसको बालककी तरह समझाना चाहिए इस पर 'ऋषेर्भगवतो' श्लोक कहते हैं.

ऋषेर्भगवतो भूत्वा शिष्योऽधीत्य बहूनि च।
सेतिहास–पुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः ।।२५।।

श्लोकार्थ : भगवान् वेदव्यासजीका शिष्य बनकर इसने इतिहास व पुराण सहित सर्व प्रकारके धर्मशास्त्र पढ़े हैं।।२५।।

व्याख्यार्थ : 'ऋषि' वह होता है जिसने मन्त्रॄके साक्षात् दर्शन किए हैं फिर यह ऋषि तो 'भगवान्' है अर्थात् प्रभावशाली ज्ञानावतार है, उसका शिष्य भी अलौकिक अर्थको जाननेवाला होता है, न केवल मात्र शिष्यपन है, किन्तु बहुत पढा है, पढ़नेके साथ उसका अभ्यास भी किया है, इससे वेद पढा किन्तु उसमॄ शंकाएं रह जायेगी, उसके निराकरणकेलिए कहते हैं कि इतिहास और पुराण भी पढ़े हैं, इतिहासके श्रवण(पढ़ने)से नीतिका ज्ञान होता है, उसका यदि अभाव होता है तो केवल धर्ममॄ भी गजेन्द्रकी तरह अनर्थ होता है और पुराणॄके अध्ययनसे अभिप्राय सहित धर्मका ज्ञान होता है तथा धर्मशास्त्रॄके पढ़नेसे देश, काल और कुल आदिके धर्मोंका ज्ञान होता है. 'सर्वशः' पदसे यह बताया है कि उन पढे हुए इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्रॄके अभिप्राय भी बहुतॄके मुखसे प्राप्त किए हैं।।२५।।

आभासार्थ : इतनी विद्या पाकर भी इसमॄ सद्गुण क्यॄ नहीं प्रकट हुए? यह इस प्रकारका कैसे हुआ? जिसका उत्तर समझा कर देते हैं.

अदान्तस्याविनीतस्य वृथापण्डितमानिनः।
न गुणाय भवन्ति स्म नटस्येवाजितात्मनः ।।२६।।

श्लोकार्थ : जो नटकी तरह वेष धरनेवाला, अजितेन्द्रिय, अजितात्मा, विनयरहित, वृथा पण्डितमानी है, उसको शास्त्राभ्यास भी गुणकारक नहीं होता है।।२६।।

व्याख्यार्थ : विद्या गुणॄको पैदा करनेवाली तब होती है जब विद्यार्थी जिसमॄ विद्याको आश्रय करता है उसमॄ दोष नहीं हो, उन दोषॄमॄ, इन्द्रियॄको न जीतना यह महान् आश्रयदोष है, जैसाकि ''परांचि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः'' इस श्रुतिमॄ कहा है इससे उनकी स्वाभाविक बहिर्मुखता कही है. विद्या विद्यार्थीको अन्तर्मुख करना चाहती हैं वह अन्तर्मुखता तब हो सकती है जब इन्द्रियां उसमॄ रुकावट करनेवाली न होवॄ, इसलिए विद्या इन्द्रिय जय चाहती है. विद्या प्राप्तिमॄ

विद्यामृ रुकावट डालनेवाले धर्मोंका अभाव ही कारण है **''विद्या ह वै ब्राह्मणम् आजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहम् अस्मि''** **''असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्''** इति. जो अनम्र है उसमृ विद्या आती है तो निर्वीर्य हो जाती जिससे गुणृको उत्पन्न नहीं कर सकती है और विशेष कहते हैं कि विद्या जब बुद्धिसे ग्रहण की जाती है तब वह अपना कार्य करती है, उसका अभिमान होनेसे उसका अग्रहण ही है अर्थात् अभिमान होनेसे विद्यासे प्राप्त गुण व उसके कार्य तिरोहित हो जाते हैं, जो बिना पढ़नेके भी समझता है कि मैं पण्डित हूं, वह प्रयोजनके न होनेसे अपने लिए विद्याका ग्रहण न करेगा ही, फिर विद्याका फल कैसे होगा? अतः ऐसे पुरुषृको पुराणादिके पठन गुणजनक नहीं होते हैं किञ्च नटकी तरह दूसरृको दिखानेकेलिए ही जो विद्या ग्रहण करता है, उसको विद्यासे कोई लाभ प्राप्त नहीं होता है जैसे नटको नाट्य करनेसे कोई फल प्राप्त नही होता है फिर यदि वह अजितात्मा है तो पैदा हुए गुण भी तामस भावृसे तिरोहित हो जाते हैं अतः इसमृ सब हैं, इसलिए पांचृ दोषृके होनेसे इसमृ विद्या फलीभूत नहीं हुई है।।२६।।

आभासार्थ : वह अपने दोषृसे आप ही नष्ट होगा, इसमृ आपका क्या जाता है? जैसे विनय धारण करना इसका धर्म है वैसे आपका भी क्षमा करना धर्म है, यदि आप क्षमा नहीं करते हो तो आप भी दोषी बनोगे, इस प्रकारकी शंका होने पर 'एतदर्थ' श्लोकमृ उत्तर देते हैं.

एतदर्थो हि लोकेऽस्मिन् अवतारो मया कृतः।
वध्या मे धर्मध्वजिनः ते हि पातकिनोऽधिकाः ।।२७।।

श्लोकार्थ : धर्मध्वजी(पाषण्ड़ी–पापी) पुरुषृके नाशार्थ ही मैंने अवतार लिया है, मुझे धर्मध्वजी मारने चाहिए क्यृकि निश्चयसे वे ही अधिक पापी हैं।।२७।।

व्याख्यार्थ : अधिकारियृको यृ करना योग्य नहीं है, यदि क्षमा करृ तो उनका अधिकारी बनना ही व्यर्थ है, जैसे परमहंस सर्व प्रकारके अतिक्रमणृको सहन करे अर्थात् अतिक्रम करनेवाले दोषीको क्षमा करे, यह उनका धर्म है वैसे यदि राजा भी दोष करनेवालृको दण्ड न देकर क्षमा करे तो सर्व प्रजाका नाश हो जावे, अतः सर्व प्रजाकी रक्षार्थ दुष्टृको दण्ड देनेकेलिए ही मेरा अवतार है, जिससे ही धर्म रक्षित होता है, अतः वह ही मेरा कर्तव्य है, धर्म पालनमृ

अधर्मियॉका निराकरण ही करना चाहिए, उसमॅ अधर्म करनेवालॉसे भी धर्मध्वजी(पाखंडी) दुष्ट हैं क्यॉकि अधर्म करनेवाले अपनेको नष्ट करते हैं, किन्तु धर्मध्वजी दूसरॉको भी नाश करते हैं इस कारणसे वे अधिक पातकी हैं. शास्त्रमॅ निषिद्ध आचरणॉको पालन करना अधर्म है, उस अधर्मका उत्कर्ष महान् पातक है, उनसे भी धर्मध्वजी अधिक पापी हैं. इसका निरूपण 'विधर्मः परधर्मश्च' वाक्यमॅ किया है, वे उपधर्म उनसे निवृत्तिकी इच्छा करने पर भी नहीं निवृत्त होते हैं और प्रतीकारके वास्ते इच्छा भी नहीं करते हैं, अतः इसके विद्यमान रहने पर अधर्म बढ़ता ही रहेगा, इसलिए वधकी आवश्यकता निरूपण की है।।२७।।

आभासार्थ : पश्चात् जो किया वह 'एतावदुक्त्वा' श्लोकसे कहते हैं.

एतावदुक्त्वा भगवान् निवृत्तोऽसद्वधादपि।
भावित्वात् तं कुशाग्रेण करस्थेनाहनत् प्रभुः ।।२८।।

श्लोकार्थ : यद्यपि बलरामजीने दुष्टॉका वध करना त्याग दिया था तो भी भावी प्रबल है, ऐसा होना ही था, इसलिए इतना कहकर सर्व समर्थने अपने हाथमॅ धरे हुए दर्भके अग्र भागसे उसको मार डाला।।२८।।

व्याख्यार्थ : वह(बलरामजी) निश्चय पूर्वक संकल्प कर असत्पुरुषॉके वधसे निवृत्त हो गए थे, जिसने ऐसा व्रत ले लिया है उसको मारनेके योग्यको भी मारना निषिद्ध है, तो भी अधिक क्षोभ होनेसे तथा ऐसी भावी बननी ही थी इसलिए धर्मकी परीक्षाकेलिए लौकिक शस्त्र त्याग कर, उसमॅ भी अपने हस्तमॅ धरे हुए सूक्ष्म कुशको मारनेका साधन बनाया. कुश, हस्तमॅ रखा हुआ था, इसलिए उसमॅ क्रियाशक्तिका अध्यास था प्रभु होनेसे मरने और मारनेमॅ कारण हैं, यॉ।।२८।।

आभासार्थ : यद्यपि उसका वध धर्म था किन्तु ऋषियॉको वह इच्छित नहीं था, अतः वे खिन्न(अप्रसन्न) हुए जिसका वर्णन 'हाहेति' श्लोकमॅ कहते हैं.

हाहेतिवादिनः सर्वे मुनयः खिन्नमानसाः ।।
ऊचुः संकर्षणं देवम् अधर्मस्ते कृतः प्रभो! ।।२९।।

श्लोकार्थ : तब सब मुनि हाहाकार करने लगे और खिन्न चित्त हो बलरामजीको कहने लगे कि हे प्रभु! आपने यह अधर्म किया है।।२९।।

व्याख्यार्थ : सब ही मुनिलोग, अपने इच्छित कार्य नाश हो जानेसे हाहाकार करने लगे, वे निश्चय पूर्वक भगवत्कथा सुन रहे थे उसका नाश हो

गया, अब कैसे सुनूगू? इससे खिन्न हृदयवाले हुए क्यूकि 'मुनि' हैं, भगवत्कथा सुनकर मनन करनेवाले हैं, भगवान्के गुणगान जब सुने जाते हैं तब ही उनमू प्रेम उत्पन्न होता है जिससे वे पूजनीय समझे जाते हैं.

साक्षात् गुरुकी सन्निधिमू बैठे जब पढा जाता है तब उसका मनन करना नहीं बन पाता है, अतः यह प्रसंगसे घर पधार गया, जो भी हम पूछूगे वह सुनाएगा, जिससे बिना श्रमके अभिलषितकी[१] सिद्धि हो जाती, उसका नाश हो गया इससे मनको खेद हुआ. तो भी जो होना था वह अनर्थ हो ही गया इसलिए अब मौन ही धारण करना उचित है, उपालम्भ क्यू देते हो? इसका उत्तर देते हैं कि ये संकर्षण हैं इनमू वह शक्ति एकका धर्म(कर्म वा शक्ति) दूसरेमू स्थापित कर सकते हैं दृष्टा[२] व दृश्य[३] दोनूको मिला सकते हैं, उसमू भी फिर विशेषता यह है कि देव हैं. जिससे अलौकिक कार्य भी कर सकते हैं, इसलिए इनको कहना ही चाहिए, तुमने इसका जो वध किया वह अधर्म कार्य किया है, यू कहनेका भाव यह है, इसके मारनेसे जो अधर्म हुआ, अधर्मका पाप आपको ही लगेगा न कि हमको, 'प्रभो' विशेषणसे यह बताया है कि आपने अपना सामर्थ्य ही प्रकट कर दिखाया है, न कि ज्ञान प्रकट किया है।।२९।।

१.जो हम चाहते है उसकी सिद्धि. २.भगवान्.

३.जगत् इन दोनूको संहारसे मिलानेवाले अर्थात् एक करनेवाले हैं.

आभासार्थ : यह वध अधर्म कैसे हैं उसका उत्तर 'अस्य ब्रह्मासन' श्लोकमू देते हैं.

अस्य ब्रह्मासनं दत्तम् अस्माभिर्यदुनन्दन!।
आयुश्चात्माक्लमं तावद् यावत् सत्रं समाप्यते।।३०।।

श्लोकार्थ : हे यदुनन्दन! हम लोगूने इसको ब्रह्मासन दिया है और इसकी आयु कम थी, इसलिए जब तक हमारा यह सत्र(कथा-यज्ञ) समाप्त न होवे तब तक यह जीवित रहे।।३०।।

व्याख्यार्थ : ब्राह्मणके सिवाय दूसरेसे कथा सुननी दोष देनेवाली है इसलिए हमने इसको ब्रह्मासन दिया है जिससे यह जब तक इस आसन पर बैठा रहे तब तक ब्राह्मण ही है. अतएव यह आपके आने पर उठकर खड़ा नहीं हुआ है. मुनियूने अपना ब्रह्मपन इसमू स्थापित किया जिससे यह अब ब्राह्मण है, किन्तु जिन मुनियूने इसको ब्राह्मणत्व दिया वे तो उठ खड़े हुए तो भी यह नहीं उठा, कोई

भी सुज्ञजन क्षत्रियको ब्राह्मण नहीं मानता है. अयोग्यमॄ ब्राह्मणत्व स्थापित किया, इसलिए ऐसेके वधमॄ धर्म अनुकुल ही है. 'अस्माभिः' बहुवचन देकर अपनी समर्थता प्रकट कर दिखाई है, 'यदुनन्दन' विशेषणसे जताया है कि ब्राह्मणॄका हार्द नहीं समझते हैं ''पिता पुत्रो विजानीयात्'' इस वाक्यानुसार पुत्र क्षत्रिय हो तो ब्राह्मण पिताके अभिप्रायको नहीं जान सकता है, कहनेका यह गुप्त आशय है कि तुम्हॄ जो पिताके अभिप्रायका अज्ञान है वह उचित ही है और विशेष यह है कि तुमने हमारी वाणीका भी नाश किया है, यद्यपि ब्राह्मणॄकी कृति अन्यथा हो भी सकती है किन्तु वाणी झूठी होने योग्य नहीं है. हम लोगॄने इसकी आयु थोड़ी देखकर इसको आयुका दान किया कि जहां तक हमारा सत्र समाप्त नहीं होगा तहां तक तुम्हारी मृत्यु भी न होगी अर्थात् तुम तब तक जीवित रहोगे जब तक हमारी दी हुई आयु रहेगी. इसका वध होनेसे हम लोगॄके आयुका भी क्षय हो गया. सूर्य भी धर्मादि करनेकी दशामॄ आयुको ग्रहण नहीं करता है, यॄ हम कहते हैं, किञ्च आत्माका अर्थात् देहके नाशका अभाव है अतः अपना किया हुआ दान और अलौकिक दान स्वयं नष्ट हो गए, इस कारणसे हाहाकार हुआ।।३०।।

आभासार्थ : ऐसा होने पर क्या परिणाम निकला? इस आकांक्षाका 'अजानतैव' श्लोकमॄ उत्तर देते हैं.

अजानतैवाचरितस्त्वया ब्रह्मवधो यथा।
योगेश्वरस्य भवतो नाम्नायोऽपि नियामकः ।।३१।।

श्लोकार्थ : जैसे ब्राह्मणका वध, वैसे यह भी है इसलिए यह वध महान् पातकके समान है, किन्तु आपने यह अनजान होके किया है, इसका जो प्रायश्चित्त होना चाहिए वह आपको लगता नहीं है क्यॄकि आप योगेश्वर होनेसे वेदके भी नियामक हैं।।३१।।

व्याख्यार्थ : यह वध ब्राह्मण वधके समान होनेसे महापातकके तुल्य है किन्तु अज्ञानसे किया है, अतः प्रायश्चित्तके योग्य है, जानकर ब्राह्मणका वध किया जावे तो उसका कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है, तो अब क्या करना चाहिए? इसके उत्तरमॄ कहते हैं कि आप योगेश्वर अर्थात् ब्रह्म हैं, जो जीव होता है उसको उसके कर्मके गुण और दोष लगते हैं आपको नहीं, कारणकि वेद, जीवका नियामक है आपका नहीं है, वेदसे ही सर्व अर्थोका नियमन होता है, अतः यद्यपि आपको वधका दोष नहीं लगता है प्रकारान्तरसे धर्म अभीप्सित था यॄ कहा है।।३१।।

आभासार्थ : तो भी प्रायश्चित्त करना चाहिए यह कहते हैं :

यद्येतद् ब्रह्महत्यायाः पावनं लोकपावन ।
चरिष्यति भवान् लोकसंग्रहोऽनन्यचोदितः ।।३२।।

श्लोकार्थ : हे लोकपावन! जो आप ब्रह्महत्याके पापको मिटाकर पवित्र करनेवाला प्रायश्चित्त करोगे तो जगत्की मर्यादा रहेगी. जिससे लोक संग्रह होगा और लोक पवित्र ह्यगे।।३२।।

व्याख्यार्थ : ऐसी ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त आप लोकसंग्रहकेलिए करोगे, अपने पाप धोनेकेलिए नहीं क्यूंकि आपको तो पाप स्पर्श ही नहीं कर सकते हैं, यदि ''हमारे विरोधसे लोकसंग्रह नहीं होगा यूं दूसरे कहू'' तो भी लोक पावनकेलिए आपका अवतार है अतः यह प्रायश्चित्त लोकको तो पवित्र करेगा ही, जैसे वध न करनेसे आपने कहा कि मेरा अवतार लेना व्यर्थ होगा वैसे प्रायश्चित्तके न करनेसे लोगूं पर उपकार भी न होगा जिससे भी अवतारकी व्यर्थता होगी यों भाव है।।३२।।

आभासार्थ : जो प्रायश्चित्त ऋषि लोग कहे वह करना चाहिए यह निश्चय कर निम्न श्लोकमूं ऋषियूंसे पूछते हैं.

श्रीबलदेव उवाच

चरिष्ये वधनिर्वेशं लोकानुग्रहकाम्यया ।
नियम प्रथमे कल्पे यावान् स तु विधीयताम् ।।३३।।

श्लोकार्थ : श्रीबलदेवजी कहने लगे कि लोकानुग्रहकी कामनासे वधका प्रायश्चित्त करूंगा, प्रथम कल्पमूं जो नियम था वह बताईए।।३३।।

व्याख्यार्थ : 'वधनिर्वेश'का तात्पर्य है वधका प्रायश्चित्त, जिससे लोक पवित्र ह्यगे यह उपपत्ति मानकर कहते हैं कि लोकानुग्रहकी कामनासे प्रायश्चित्त करूंगा, मुख्य कल्पमूं जो प्रायश्चित्त करनेके नियम थे वे मुझे कहिये, मुख्य कल्पमूं जो नियम थे वे वेद इस समय नहीं कहता है, इस संकोचका त्याग कर मुख्य कल्पके नियम बतलाईये।।३३।।

आभासार्थ : आपको अन्य भी कुछ अभिलषित हो तो वह कहिये मैं वह भी पूर्ण करूंगा यूं निम्न श्लोकमूं कहते हैं.

दीर्घम् आयुर्बतैतस्य सत्त्वम् इन्द्रियमेव च ।
आशंसितं यत् तद् ब्रूत साधये योगमायया ।।३४।।

श्लोकार्थ : इसकी दीर्घ आयु, बल और इन्द्रिय सामर्थ्य जो भी आपकी इच्छा हो वह कहिये मैं अपने योगबलसे सर्व पूर्ण करूंगा।।३४।।

व्याख्यार्थ : जैसेकि इसकी दीर्घ आयु, बल और इन्द्रियाॅमृ सामर्थ्य हो वह अन्य भी जो कुछ आपकी इच्छा हो, 'च' पदसे कहते हैं कि आगे इच्छा न भी हो, अब हुई हो वह भी कहिए तो मैं सब अपने योगबलसे सिद्ध करूंगा।।३४।।

आभासार्थ : बलरामजीके ये वाक्य सुनकर प्रसन्न हुए ऋषि कहने लगे इनकी परीक्षा लेवॅू वा नहीं? हम एक दूसरेके विरुद्ध बाते कहॅू, उसमॅू यदि समाधान समझ जाएंगे तो इसका याॅू कहना सिद्ध होगा यह कहते हैं.

ऋषय ऊचुः

अस्त्रस्य तव वीर्यस्य मृत्योरस्माकमेव च।

यथा भवेद् वचः सत्यं तथा राम विधीयताम्।।३५।।

श्लोकार्थ : ऋषि कहने लगे, आपके अस्त्रकी, पराक्रमकी और मृत्युकी सत्यता हो जाय और हमको भी बाध न होवे, जो कुछ कहा है वह सत्य हो वैसे करिये।।३५।।

व्याख्यार्थ:यहां चार विषय मिले हुए हैं, अस्त्र, आपका वीर्य(पराक्रम), मृत्यु और हम, इसमॅू उसके जीनेमॅू तीन बाधित हैं और अजीवनमॅू तो हम, 'च' पदसे और आपका वाक्य, जैसे ये चार भी सत्य हो जाय हे राम! वैसे कीजिए ।।३५।।

आभासार्थ : एक 'आत्मा वै' श्लोकसे चारॅू दूषणॅूका निर्णय करते हैं.

श्रीबलदेव उवाच

आत्मा वै पुत्र उत्पन्न इति वेदानुशासनम्।

तस्माद् अस्य भवेद् वक्ता आयुरिन्द्रियवीर्यवान्।।३६।।

श्लोकार्थ : श्रीबलदेवजी कहने लगे कि इसका पुत्र उग्रश्रवा तुमको पुराण सुनावेगा. क्यॅूकि वेदकी आज्ञा है कि पिता ही पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है. वह आयु, वीर्य और इन्द्रिय बलवान होगा।।३६।।

व्याख्यार्थ : ''**अङ्गाद् अङ्गात् सम्भवसि हृदयाद् अभिजायसे आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्**'' इस श्रुतिके अनुसार ''पुत्र पिताके अंग–अंगसे उत्पन्न होनेसे पिताका ही रूप है, उसमॅू आशीर्वाद रूपसे कहा है कि वह १००

वर्ष जीवित रहे''. यद्यपि यह अनुकल्प है, तो भी मुख्यके अभावमॄ उसीसे कार्य चलाना चाहिए क्यॄकि वेदकी आज्ञा है. इस कारणसे इस पुराणका कहनेवाला आयु, इन्द्रिय सामर्थ्य और वीर्यवाला यह ही होवे तब अस्त्र, मेरे वीर्य, उससे इसके मृत्युमॄ बाधा न होगी. सामान्यतया उस धर्मसे उत्पन्न प्रतिनिधि होना चाहिए, इस न्यायसे इसका भी यही प्रकार होना चाहिए, यॄ समझाया हैं।।३६।।

आभासार्थ : और कुछ यद्यपि, यह जो मैंने बताया वह आपको सर्वथा इच्छित हो वह कहिये यॄ निम्न श्लोकमॄ कहते हैं.

किं वः कामो मुनिश्रेष्ठा ब्रूताहं करवाण्यथ।
अजानतस्त्वपचितिं यथा मे चिन्त्यतां बुधाः ।।३७।।

श्लोकार्थ : हे मुनिश्रेष्ठॄ! आपकी कौनसी इच्छा है वह कहिये तो मैं करुंगा, क्या प्रायश्चित्त करना चाहिए वह मैं नहीं जानता हूं इसलिए आप विचार कर मुझे बतलाइए।।३७।।

व्याख्यार्थ : आपके कहनेके अनन्तर, आपका कहा हुआ शीघ्र ही करूंगा, यदि कहो कि हमसे क्यॄ पूछते हो अपनी इच्छासे कीजिए, इसके उत्तरमॄ कहते हैं कि, क्या प्रायश्चित्त करना चाहिए वह मैं नहीं जानता हूं अतः जैसा प्रायश्चित्तका प्रकार हो वह विचार कर मुझे आप कहॄ क्यॄकि आप बुध हो अर्थात् इसको जानते हो अतः अपराधके दूर करनेका उपाय विचारिये, विचार करनेके अनन्तर मुझे बताइए।।३७।।

आभासार्थ : ऋषि लोग निम्न श्लोकमॄ अपना इच्छित कार्य बताते हैं.

ऋषय ऊचुः
इल्वलस्य सुतो घोरो बल्वलो नाम दानवः।
स दूषयति नः सत्रमेत्य पर्वणि पर्वणि ।।३८।।

श्लोकार्थ : ऋषि कहने लगे कि, इल्वलका पुत्र बल्वल नामवाला दानव प्रत्येक पर्व पर आके हमारे यज्ञको दूषित करता है।।३८।।

व्याख्यार्थ : बराबरवाला ही निष्कृतिका हेतु होता है, इल्वल भी ब्राह्मण वेष धारण कर ऋषि रूपसे कहीं ठहरा था उसका पुत्र बल्वल है, वह मारने योग्य है कारणकि एक तो वह दानव है, इससे वधके योग्य है और दूसरा कारण यह है कि वह पूर्णमासी आदि प्रत्येक पर्व पर आकर हमारे यज्ञको अपवित्र वस्तुआॄ द्वारा दूषित करता है।।३८।।

आभासार्थ : इस प्रकार उसका अपराध कहकर अनन्तर निम्न श्लोकमृ कर्तव्य कहते हैं.

तं पापं जहि दाशार्ह तन्नः शुश्रूषणं परम् ।
पूयशोणितविण्मूत्र–सुरामांसाभिवर्षणम् ।।३९।।

श्लोकार्थ : उस पापी दैत्यका वध करो, कारणकि यह हमारे यज्ञको पूय, रुधिर, विष्टा, मूत्र, मद्य और मांसकी वर्षासे भ्रष्ट करता है इसका वध ही हमारी बड़ी सेवा आपने की, याॄ हम मानॄगे।।३९।।

व्याख्यार्थ : पापी होनेसे यह अवश्य मारने योग्य है, दाशार्ह! संबोधनसे यह बताया है कि, हम आपके शरण आए हुए हैं, हमको पालना यह आपका धर्म है, याॄ करना ही, हमारी सेवा है, यह हमारी अपेक्षा है अर्थात् हम याॄ चाहते हैं और दुःख निवारक होनेसे भी यह कार्य आपको अवश्य करना चाहिए यद्यपि पाद(चरण चांपना) संवाहन आदि भी सेवा है किन्तु यह उससे श्रेष्ठ है, उसके(बल्वलके) दूषण कहते हैं–पूयादि षट अमेध्य वस्तुओॄकी वर्षा यज्ञमृ करते हैं परशुश्रूषेणत्व (बडी सेवा)केलिए यह पहले कहा है।।३९।।

आभासार्थ : इस प्रकार अपना अभिलषित कहकर, उसके करनेसे हम प्रसन्न होॄगे, फिर आप सुगम ही प्रायश्चित्त करना, वह प्रायश्चित्त नीचेके श्लोकमृ सुनाते हैं.

ततश्च भारतं वर्षं परीत्य सुसमाहितः ।
चरित्वा द्वादशान् मासान् तीर्थस्नायी विशुध्यसे ।।४०।।

श्लोकार्थ : इसके बाद मन स्थिर कर, एक वर्ष पर्यन्त भारतमृ भ्रमण करते हुए तीर्थोमृ स्नान करनेसे आप ब्रह्महत्याके पापको धो कर शुद्ध हो जाओगे।।४०।।

व्याख्यार्थ : सम्पूर्ण भारतवर्षकी परिक्रमा करनी, यह मुख्य कल्प है. उसमृ क्या करना वह प्रकार बताते है, १.एक चित्त हो, २.एक वर्ष पर्यन्त वह व्रत रखना है, यह व्रत, शूद्रहत्याके पापका नाशक है. इसके बाद साल भर तीर्थोंमृ स्नान करना, सम्पूर्ण स्नान होनेके बाद जब अन्तिम स्नान करोगे तब शुद्ध हो जाओगे. भारत समग्रकी यात्रा ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त है, एक वर्षका काल शूद्रहत्याका प्रायश्चित्त है, बल्वलके वधसे हमारा सन्तोष होगा, प्रतिनिधीके स्थापित होनेसे आपके वाक्यकी सत्यता सिद्ध होगी, याॄ सब यथास्थित हो

जाएगा, अर्थात् जैसा था वैसा सब हो जायगा, जिससे आप शुद्ध हो जाओगे।।४०।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम–स्कंधके ७५वृ अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण द्वारा विरचित श्रीसुबोधिनी(संस्कृत–टीका)के
सात्त्विक फल अवान्तर प्रकरणके प्रथम अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ७६

बल्वलका उद्धार और बलरामजीकी तीर्थयात्रा

कीर्त्यभावे सुसंसिद्धे कीर्तिहेतुन् बल स्वयम्।
त्रिंशत्तमे तथाध्याये चकारेति निरूप्यते ।।का.१।।

कारिकार्थ: पूर्व अध्यायमॄ बलरामजीने सूतको मारा जिससे उनकी जैसे अपकीर्ति हुई, वैसे ही इस अध्यायमॄ बलरामजी स्वयं ऐसे कर्म करॄगे जिनसे आपका यश फैलेगा।।१।।

आभासार्थ : उसमॄ पहले बल्वलके वधकेलिए कालकी प्रतिक्षा की पश्चात् बल्वल आया, जिसका वर्णन 'ततः' श्लोकमॄ श्रीशुकदेवजी करते हैं.

श्रीशुक उवाच

ततः पर्वण्युपावृत्ते प्रचण्डः पांशुवर्षणः।
भीमो वायुरभूद्राजन्पूयगन्धस्तु सर्वतः ।।१।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि, हे राजा! जब पूर्णिमाका पर्व आया तब उस दिन भयंकर और प्रचण्ड पवन चलने लगा और साथमॄ धूलि बरसने लगी तथा चारॄओर पूयकी बदबू फैल गई।।१।।

व्याख्यार्थ : दानव स्वयं(खुद) तो अदृश्य ही होते हैं, इसलिए उसने जो दृष्ट कार्य किया उसका वर्णन करते हैं, पश्चात् धूलकी वर्षा करता हुआ प्रचण्ड पवन चलने लगा, वह इनका प्रथम कार्य था, हे राजन्! यह संबोधन इस आशयको जतानेकेलिए दिया कि इसके बाद बड़ी सेना आ रही है, अनन्तर चारॄ तरफ पूयकी बदबू फैल गई।।१।।

आभासार्थ : वर्षाकेलिए मद्य मांस आदि ले आया, जिसका वर्णन निम्न श्लोकमॄ करते हैं.

ततोऽमेध्यमयं वर्षं बल्वलेन विनिर्मितम्।
अभवद्यज्ञशालायां सोऽन्वदृश्यत शूलधृक् ।।२।।

श्लोकार्थ : पश्चात् यज्ञशालामॄ, बल्वलकी बरसाई हुई, अपवित्र मांसादि पदार्थोंकी वर्षा होने लगी, त्रिशूल धारण किये वह भी दिख पड़ा।।२।।

व्याख्यार्थ : अनन्तर यज्ञशालामॄ अपवित्र मांस पूयादिकी वर्षा होने लगी, बलरामजी जान गए कि यह ही निश्चय उपद्रव है, बादमॄ त्रिशूलधारी वह

बल्वल भी दीख पड़ा, त्रिशूल लेनेका कारण यह था कि मुझे महादेवजीने वर दिया है इसकी प्रसिद्धि होवे।।२।।

आभासार्थ : पश्चात् उसका बल देख उसके स्वरूपका 'तं विलोक्य' श्लोकमृ वर्णन करते हैं.

तं विलोक्य बृहत्कायं भिन्नाञ्जनचयोपमम्।
तप्ताम्रशिखाश्मश्रुं दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीमुखम्।।३।।

श्लोकार्थ : महाकाय टूटे हुए अञ्जन(काजल) पर्वतके समान रंगवाले तपे हुए ताम्र समान लाल शिखा और दाढ़ी मूंछवाले, दाढ़े और भ्रुकुटीसे भयंकर मुखवाले उसको देख रामने निश्चय किया कि यह सर्वथा मार डालनेके योग्य है – अनन्तर क्या किया? उसका वर्णन ४ श्लोकमृ करते हैं।।३।।

व्याख्यार्थ : पहले उसकी मूर्तिकी स्थूलता ही भयजनक थी, जिससे उसमृ विशेष बल है यह समझा जाता है, फिर उसका रंग भी वैसा ही भयावह था, जिसका वर्णन 'भिन्नानञ्जचयोपमं' पदसे करते हैं, अञ्जनचयका आशय है अञ्जन(काजल)का पर्वत, उस प्रसिद्ध अञ्जन पर्वतसे टूटा हुआ भाग मूर्तिधारी अञ्जनका पर्वत हो जाता है, उसका आधिदैविक स्वरूप अलग पर्वतरूपमृ स्थित होता है, तब यह उसके समान है. इस प्रकार उसमृ तामसभाव है, यह कहा. यदि या्र है तो वह जड़ होगा, इस प्रकारकी शंका कर, उसके स्वरूप तथा वर्णनमृ राजसभावका वर्णन करते हैं, अग्निसे तपाए हुए तांबेके समान केश, और दाढ़ी मूछवाला है और उसका मुख भी दाढ़ा्रसे तथा उग्रभृकुटीसे विकराल है, अतः यह सर्वथा मारनेके योग्य ही है।।३।।

सस्मार मुसलं रामः परसैन्यविदारणम्।
हलं च दैत्यदमनं ते तूर्णमुपतस्थतुः।।४।।

श्लोकार्थ : शत्रुकी सेनाको नाश करनेवाले मूसल और दैत्या्रको दमन करनेवाले हलका बलदेवजीने स्मरण किया, जिससे वे दोना्र हल और मूसल आके उपस्थित हुए।।४।।

व्याख्यार्थ : अपने दो शस्त्र, मूसल और हल नामक थे, जो द्वारकामृ, पातालमृ, अथवा वैकुण्ठमृ पड़े थे, उनका रामने स्मरण किया, क्या्रकि 'राम' सर्वको रति देनेवाले हैं, आगेकी तरह यह विशेषण है. शत्रु सेनाका जो नाश करे वैसा हल था, 'च' पदसे उसके धर्मका अनुत्कर्ष कहा, स्मरणके बाद शीघ्र वे

दोनॄ बलरामजीके पास आके खड़े हुए।।४।।

आभासार्थ : पश्चात् लीला करनी नहीं थी, इसलिए एक ही प्रहारसे उसको मार डाला यह 'तमाकृष्य' श्लोकमॄ वर्णन करते हैं.

तमाकृष्य हलाग्रेण बल्वलं गगनेचरम्।
मुसलेनाहनत्क्रुद्धोमूर्ध्नि ब्रह्मद्रुहं बलः ।।५।।

श्लोकार्थ : बलदेवजीने क्रोधमॄ आकर, आकाशमॄ विचरते हुए उस ब्रह्मद्रोही बल्वल दैत्यको हलके अग्रसे खींचकर, उसके शिरमॄ मूसलका प्रहार किया।।५।।

व्याख्यार्थ : 'गगनेचरं' आकाशमॄ विचरण कर रहा था इसलिए दूर था, तो भी बल्वलको हलके अग्रसे खींच लिया, बलराम भगवत्व होनेसे नहीं मारते, किन्तु क्रोध आ गया इसलिए क्रोधके कारण मूसलसे प्रहार किया. क्रोध क्यॄ आया ? जिसके उत्तरमॄ कहते हैं कि ब्रह्मद्रोही था, राममॄ ऐसा सामर्थ्य था।।५।।

आभासार्थ : उसका कोई पराक्रम देखनेमॄ न आया, यॄ कहनेकेलिए बताया है कि वह तुरन्त ही गिर गया यॄ 'सोऽपतद्भुवि' श्लोकमॄ कहते हैं.

सोऽपतद्भुवि निर्भिन्नललाटोऽसृक्समुत्सृजन् ।
मुञ्चन्नार्तस्वरं शैलो यथा वज्रहतोऽरुणः ।।६।।

श्लोकार्थ : मूसलके प्रहारसे ललाट टूट गया, जिससे रुधिरकी धारा बहाता हुआ पृथ्वी पर ऐसे गिर गया, जैसे वज्रके प्रहारसे टूटा हुआ अरुण वर्णका पर्वत गिरता है, गिरनेके समय आर्तस्वर करते ही प्राण निकल गए।।६।।

व्याख्यार्थ : पृथ्वी पर गिरे, इससे ज्ञात होता है कि इसकी भी मुक्ति हुई. ललाट फूटना जनाता है कि मुसलका प्रहार है. रुधिर(खून) बहता है जिससे समझमॄ आता है कि जबर्दस्त प्रहार हुआ है. उसका किसी प्रकार प्रतिकार न हुआ, यह बतानेकेलिए आर्तस्वर करने लगा, इस प्रकारसे भगवान्को प्रार्थना की कि दया कर मेरी मुक्ति कीजिए. वैसेको भी मारना ही चाहिए इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, जैसे अरुण पर्वत वज्रसे मारा गया वैसे इसका भी वध होना चाहिए।।६।।

आभासार्थ : इष्ट सिद्ध होनेके पश्चात् प्रसन्न मुनिगण स्तुति करने लगे, जिसका वर्णन 'संस्तुत्य' श्लोकमॄ करते हैं.

संस्तुत्य मुनयो रामं प्रयुज्यावितथाशिषः।

अभ्यषिञ्चन्महाभागा वृत्रघ्नं विबुधा यथा ।।७।।

श्लोकार्थ : मुनियोंने रामकी स्तुति कर, सत्य आशीर्वाद देकर, जैसे देवताओंने इन्द्रका अभिषेक किया वैसे इन्होंने बलरामजीका अभिषेक किया।।७।।

व्याख्यार्थ : स्तुति करनेका तात्पर्य है अपनेको संतुष्ट करना अतः बलरामजीकी स्तुति कर मुनि लोग प्रसन्न हुए. बादमें सत्य आशीर्वाद भी दिए अनन्तर सर्व पुरुषार्थ सिद्धिकेलिए रामका अभिषेक करने लगे. बलरामजी परम दयालु हैं और इस समय व्रतधारी भी हैं, ऐसी हालतमें, वध जैसा कार्य कैसे किया ? इस शंकाको मिटानेकेलिए कहते हैं कि बहुत प्रार्थना करनेसे केवल मारा, स्वतः ही नहीं मारा इसको समझानेकेलिए दृष्टान्त दिया है कि जैसे वृत्रको मारनेसे देव प्रसन्न हुए, जिससे उन्होंने इन्द्रका अभिषेक किया वैसे ही बल्वल दैत्यके नाशसे मुनि प्रसन्न हुए, क्योंकि अब हमारा यज्ञकर्म शुद्धि एवं निर्विघ्न होगा, जिसकेलिए ऋषियोंने भी अभिषेक किया।।७।।

वैजयन्तीं ददुर्मालां श्रीधामाम्लानपङ्कजाम् ।
रामाय वाससी दिव्ये दिव्यान्याभरणानि च ।।८।।

श्लोकार्थ : लक्ष्मीकी निवासवाली, जिसके पुष्प कभी मुरझाते नहीं, ऐसी वैजयन्तीमाला, दिव्य वस्त्र और दिव्य आभरण रामको दिए।।८।।

व्याख्यार्थ : पश्चात् कीर्ति बढ़ानेकेलिए, मुनियोंने रामको पैरों तक लटकती, लक्ष्मीका निवासस्थान, जिसके पुष्प कभी कुम्हलाते नही, ऐसी वैजयन्तीमाला दी. पुष्पोंका न मुरझाना सिद्ध करता है कि इस मालामें किसी प्रकारका दोष नहीं है, किन्तु 'पङ्कज' पदसे कहते है सर्वगुण इसमें हैं. 'राम' शब्दसे यह भाव बताया है कि यह स्वरूप सबको आनन्द करानेवाला है. वस्त्र और आभरणोंको दिव्य कहनेसे उनकी लौकिक शोभासे विशेष शोभा प्रकट की है इनके धारण करनेसे आपकी अलौकिक शोभा होगी।।८।।

अथ तैरभ्यनुज्ञातः कौशिकीमेत्य ब्राह्मणैः ।
स्नात्वा सरोवरमगाद्यतः सरयुरास्रवत् ।।९।।
अनुस्रोतेन सरयुं प्रयागमुपगम्य सः ।
स्नात्वा संतर्प्य देवादीञ्जगाम पुलहाश्रमम् ।।१०।।

श्लोकार्थ : मुनिलोगोंसे आज्ञा ले, ब्राह्मणोंके साथ कौशिकी नदी पर

आकर वहां स्नान कर मानस सरोवर गए, वहांसे सरयुके प्रवाहके साथ-साथ आते प्रयाग पहुंचे, वहां त्रिवेणीमॅ स्नान कर देव आदिका तर्पण कर पुलहके आश्रम आए।।९-१०।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार बलरामजी लौकिक और अलौकिक शोभावाले बनकर, मुनियॉकी आज्ञा पालनेकेलिए, उनसे आज्ञा प्राप्त कर तीर्थ यात्रा पर, ब्राह्मणॉके साथ पधारे. पहले कौशिकी नदी पर पहुंचे, कौशिकी नदी वह है जो उत्तर भागमॅ कोटा ग्रामसे आती है, उसमॅ स्नान कर, उसी ही मार्गसे मानस सरोवर गए.

उस सरोवरसे अनेक नदियां निकल कर बहती हैं. उससे सरयु भी निकली है, अतः उस सरयुके प्रवाहके साथ-साथ आते हुए अयोध्या पर्यन्त आकर, अनन्तर प्रयाग आए. सरयु और सरयू शब्दके दोनॉ प्रकार हैं, 'सर' यह जलका नाम है, जलको जो जोड़ती है वह 'सरयू' कहलाती है, वहांसे तीर्थराज प्रयागमॅ विशेष स्नान तर्पण आदि किए, पश्चात् उत्तरभागमॅ पुलहके आश्रम हरिहर क्षेत्रमॅ गए।।९-१०।।

गोमतीं गण्डकीं स्नात्वा विपाशां शोण आप्लुतः।
गयां गत्वा पितॄनिष्ट्वा गङ्गासागरसङ्गमम्।।११।।

श्लोकार्थ : गोमती, गण्डकी और विपाशामॅ स्नान कर फिर शोणनदमॅ नहाए पश्चात् 'गयाजी'मॅ जाकर पितॄ तर्पण किया अनन्तर गंगासागर संगम पर भी जाके तर्पण किया।।११।।

व्याख्यार्थ : जाते-जाते बीचमॅ गोमती और गण्डकीमॅ स्नान कर फिर विपाशामॅ भी स्नान किया. विपाशा कोई क्षुद्र नदी हरिक्षेत्रके समीप पञ्च नदीमॅ मिली हुई है, दूसरी विपाशा नदी काश्मीर देशमॅ है, वहांसे शोण नद पर आए, गङ्गा पार होकर वहां पहुंचे, वह भी महानद है, इसलिए उस शोण महानदमॅ स्नान किया. पश्चात् 'गयाजी' जाकर वहां सामान्य पितरॉका पूजन तर्पण आदि किया अथवा पितामह आदि पितरॉका तर्पण आदि किया. जिसका पिता जीवित हो, उसको केवल गया पर नहीं जाना चाहिए, किन्तु तीर्थोंकी यात्रा करने जावे तो वहां भी जा सकता है अनन्तर गङ्गासागर गए, सर्व तीर्थोंमॅ स्नान तर्पण आदि किया।।११।।

उपस्पृश्य महेन्द्राद्रौ रामं दृष्ट्वाभिवाद्य च।
सप्तगोदावरीं वेणां पम्पां भीमरथीं ततः।।१२।।

श्लोकार्थ : वहां गंगासागरमृ स्नान कर महेन्द्र पर्वत पर परशुरामके दर्शन कर तथा उनको नमस्कार कर, सप्तगोदावरी, वेणा और पम्पासे होते हुए भीमरथी पर पहुंचे।।१२।।

व्याख्यार्थ : वहांसे महेन्द्र पर्वत पर पहुंचे, मध्य मार्गमृ पुरुषोत्तम स्थान है, किन्तु वहां भगवान् नहीं विराजते हैं, केवल स्थान मात्र था, इसलिए उसको नहीं कहा, वहां महेन्द्र पर्वत पर परशुरामके दर्शन कर नमस्कार की, क्यूंकि वे आपसे बड़े हैं. पश्चात् सप्तगोदावरी गए अर्थात् जहां गोदावरी सप्तधारा हो समुद्रमृ प्रवेश करती है वहां पहुंचे, फिर कृष्णवेणीका जहां संगम हुआ है वहां पधारे, अनन्तर मध्यदेशमृ आकर निवृत्ति संगम पाण्डुरंग अथवा भीमरथी पर गए, पम्पासर विद्यानगरके समीप है।।१२।।

स्कन्दं दृष्ट्वा ययौ रामः श्रीशैलं गिरिशालयम्।
द्रविडेषु महापुण्यं दृष्ट्वाद्रिं वेङ्कटं प्रभुः ।।१३।।

श्लोकार्थ : स्वामी कार्तिकेयके दर्शनकर, बलरामजी महादेवजीके निवासस्थान श्रीशैलपर्वत पर गए द्रविडदेशमृ महापवित्र श्रीरंगक्षेत्रमृ पधारे।।१३।।

व्याख्यार्थ : वहां ही स्वामी कार्तिकेयके दर्शन कर, पश्चात् श्रीशैलपर्वत पर पधारे. इस देशके मध्यमृ परिभ्रमण कर सब तीर्थ किए. पश्चात् पूर्वभाग श्रीशैल पर्वत पर क्यूं गए? इसके उत्तरमृ कहते हैं कि वहां महादेवजीका गृह है, वहां महादेवजीके दर्शन कर द्रविड़ देशमृ महा पुण्यदायी श्रीवेङ्कटेश प्रभुके दर्शन किए, वह पर्वत ही विष्णुरूप है, जैसे नारायण।।१३।।

कामकोष्णीं पुरीं काञ्चीं कावेरीं च सरिद्वराम्।
श्रीरङ्गाख्यं महापुण्यं यत्र सन्निहितो हरिः ।।१४।।

श्लोकार्थ : फिर कामकोष्णी कांचीपुरी, उत्तम नदी कावेरी जाकर महापवित्र श्रीरंगक्षेत्र पधारे जहां हरि भगवान् विराजे हैं।।१४।।

व्याख्यार्थ : वहांसे कामकोष्णी अर्थात् कामाक्षी जो शिवकाञ्ची नामसे प्रसिद्ध है, फिर पुण्य कोटि काञ्ची आए, वहांसे कावेरी पहुंचे, जो श्रीरङ्गजीका स्थान है. वहां महापुण्यके हेतु श्रीरङ्गजीका दर्शन किया, सकल मूर्तियूंकी अपेक्षा श्रीरङ्ग स्वरूपकी विशेषता दिखाते हैं कि जिस स्वरूपमृ हरि साक्षात् विराजते हैं।।१४।।

ऋषभाद्रिं हरेः क्षेत्रं दक्षिणां मथुरां तथा।

समुद्रसेतुमगमन्महापातकनाशनम् ।।१५।।

श्लोकार्थ : हरिका क्षेत्र ऋषभाचल, व दक्षिण मथुरा जाकर महापातकॄका नाश करनेवाले सेतुबंध पर पधारे।।१५।।

व्याख्यार्थ : वहांसे ऋषभाचल पधारे, उसके ही ऊपर भागमॄ जो क्षेत्र है, वह शिवक्षेत्र है? वा विष्णु क्षेत्र है? इस शंकाको मिटानेकेलिए 'हरेः क्षेत्रं' कहा है अर्थात् यह ऊपर भाग हरिका क्षेत्र है, पश्चात् दक्षिण मथुरा गए, जो मान मथुरा नामसे प्रसिद्ध है, अनन्तर सेतुबन्ध गए, उसका माहात्म्य कहते हैं कि महापातकॄको भी नाश करनेवाला है, वह अत्यन्त पुण्य देनेवाला है।।१५।।

तत्रायुतमदाद्धेनूर्ब्राह्मणेभ्यो हलायुधः ।
कृतमालां ताम्रपर्णीं मलयं च कुलाचलम् ।।१६।।

श्लोकार्थ : वहां बलदेवजीने ब्राह्मणॄको दश हजार गौ, दानमॄ दी. फिर कृतमाला, ताम्रपर्णी, कुलाचल और मलय पर्वत पर पधारे जहां अगस्त्यजी विराजे थे।।१६।।

व्याख्यार्थ : वहां दस सहस्र गौआॄका दान किया, वह दान तीर्थ पर रहनेवालॄको दिया होगा? इस शंकाको मिटानेकेलिए कहा है कि गौदान ब्राह्मणॄको दिया, यद्यपि वह स्थान आपका ही बनाया हुआ है तो भी उसकी पहचान नहीं, इसलिए 'हलायुध' नाम दिया है, पश्चात् कृतमाला गए, वह आगे दक्षिण समुद्रके पास ही है, वहांसे ताम्रपर्णी गए, वहां ही मलय और कुलाचल पर्वत हैं, जहां अगस्त्य ऋषिका आश्रम है।।१६।।

आभासार्थ : पश्चात् जहां अगस्त्यजी विराजते थे, वहां आकर उनको नमस्कार की, जिसका वर्णन 'तत्रागस्त्यं' श्लोकमॄ करते हैं.

तत्रागस्त्यं समासीनं नमस्कृत्याभिवाद्य च ।
योजितस्तेन चाशीर्भिरनुज्ञातो गतोऽर्णवम् ।
दक्षिणं तत्र कन्याख्यां दुर्गां देवीं ददर्श सः ।।१७।।

श्लोकार्थ : वहां ध्यानमॄ स्थित अगस्त्यजीको प्रणाम कर फिर नामोच्चारण पूर्वक अभिवादन कर आशीर्वाद ली, अनन्तर आज्ञा पाकर दक्षिण समुद्र पधारे वहां कन्या नामवाली दुर्गादेवीके दर्शन किए।।१७।।

व्याख्यार्थ : जब बलरामजी वहां पधारे, तब अगस्त्यजी तपस्या कर रहे थे, जिससे आपका आसन स्थिर था अथवा भगवच्चिन्तन कर रहे थे, बलरामजीने

नमस्कार की, यह नमस्कार ऋषिके माहात्म्यका ख्यापक था, फिर नामका उच्चारण करते हुए साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया. 'च' पदका आशय है कि स्तुति भी की, यानी नमन अभिवादन करनेसे प्रसन्न ऋषिने बलरामजीको आशीर्वाद दी. आशीर्वाद ग्रहण करनेके अनन्तर जानेकी आज्ञा ली, आज्ञा पाकर दक्षिण समुद्र पधारे, जहां कन्याकुमारी विराजती है, जानेके बाद उनके दर्शन किए, इसका नाम दुर्गा इसलिए दिया है कि इसमें लक्ष्मीका अंश नहीं है, वह देवी देवतारूप है, पहले मनुष्यरूप होते हुए भी देवतारूप थी।।१७।।

१. 'कन्याकुमारी' नामसे प्रसिद्ध है.

ततः फाल्गुनमासाद्य पञ्चाप्सरसमुत्तमम्।
विष्णुः सन्निहितो यत्र स्नात्वास्पर्शद्गवायुतम्।।१८।।

श्लोकार्थ : दुर्गाके दर्शन करनेके बाद, फाल्गुन तीर्थ पर आए, उत्तम पञ्चाप्सरस नाम तीर्थ पर पधारे, जहां विष्णु भगवान् सदा सन्निहित हैं उसमें स्नान कर दशहजार गौ दानमें दी।।१८।।

व्याख्यार्थ : पश्चात् फाल्गुन तीर्थ जिसको अनन्त शय्या कहते हैं, वहां गए. अनन्तर पञ्चाप्सरस तीर्थ जो उत्तम स्थान है, वहां पधारे. शरणागत पांच अप्सराओंका अर्जुन द्वारा वहां उद्धार हुआ है, इसलिए इसका नाम पञ्चाप्सर पड़ा है, इस स्थान पर विष्णु सदैव विराजते हैं. यही इसका माहात्म्य है, वहां भी स्नान कर सेतुकी तरह यहां भी दस सहस्र गौ दान की।।१८।।

ततोऽविव्रज्य भगवान् केरलान् स्तोक्यगर्तकान्।
गोकर्णाख्यं शिवक्षेत्रं सान्निध्यं यत्र धूर्जटेः ।।१९।।

श्लोकार्थ : फिर बलरामजी बहुत शीघ्र केरल स्तोक्य और गर्तक भेदवाले देशमें आकर गौकर्ण नामवाले शिवके क्षेत्रमें पधारे जहां महादेव सदैव विराजते हैं।।१९।।

व्याख्यार्थ : वहांसे शीघ्र गए, क्योंकि उस देशको उल्लंघन करना था, क्योंकि ये भगवान् हैं. उस देशके तीन भाग हैं १.केरल, २.स्तोक्य और ३.गर्तक. वह ही मलबार नामसे प्रसिद्ध है. उससे आगे गोकर्णाख्य तीर्थ है. वहां रावणने महादेव लाकर स्थापित किया, किन्तु वहांसे फिर उठाकर ले जा न सके, उठानेके समय महादेव गोकर्ण जैसी आकृतिवाले बन गए, जिससे इस तीर्थका नाम गोकर्ण प्रसिद्ध हुआ, वह शिवका क्षेत्र है, वहां सर्वदा ही शिवका सांनिध्य है।।१९।।

आर्यां द्वैपायनीं दृष्ट्वा शूर्पारकमगाद्बलः ।
तापीं पयोष्णीं निर्विन्ध्यामुपस्पृश्याथ दण्डकम् ।।२०।।

श्लोकार्थ : जहां व्यासजीने तप किया, उस आर्या नदीसे होकर शूर्पारक आए, पश्चात् तापी, पयोष्णी और निर्विन्ध्यामृ स्नान कर दण्डकारण्य पधारे।।२०।।

व्याख्यार्थ : द्वैपायन व्याससे तपस्याके कारण सम्बन्धवाली आर्या नदीसे होकर शूर्पारक स्थान अर्थात् कृष्णवेणी नदी पर आए, पश्चात् तापी, पयोष्णी और निर्विन्ध्यामृ स्नान करते हुए दण्डकारण्यमृ प्रविष्ट हुए।।२०।।

प्रविश्य रेवामगमद्यत्र माहिष्मती पुरी ।
मनुतीर्थमुपस्पृश्य प्रभासं पुनरागमत् ।।२१।।

श्लोकार्थ : रेवा नदीमृ स्नान कर महिष्मती नगरीमृ आए, वहां मनुतीर्थमृ नहाकर, फिर प्रभास आए।।२१।।

व्याख्यार्थ : रेवा अर्थात् नर्मदा पर गए, जहां मण्डप पर्वतके समीप महिष्मती नामवाली पुरी पहले प्रसिद्ध थी, वहांसे किनारे-किनारे जाते हुए मनु तीर्थ पर पहुंचे, जहां स्नान किया, बादमृ समुद्र संगम तक आकर फिर प्रभास पधारे. इस प्रकार मण्डलकी तरह भारतवर्ष परिभ्रमण किया, तो भी वर्ष पूर्ण न हुआ।।२१।।

श्रुत्वा द्विजैः कथ्यमानं कुरुपाण्डवसंयुगे ।
सर्वराजन्यनिधनं भारं मेने हृतं भुवः ।।२२।।

श्लोकार्थः ब्राह्मणाृका कथन-कौरव-पाण्डवाृके युद्धमृ सब राजाआृका नाश हो गया-सुनकर बलदेवजीने माना कि पृथ्वीसे भार उतरा।।२२।।

व्याख्यार्थ : वहांसे भी आगे भ्रमण करते हुए बलरामजी कुरुक्षेत्रके निकट पहुंचे, वहांके ब्राह्मणाृके कथनसे कि कौरव-पाण्डवाृके युद्धमृ उनके सम्बन्धी सब मारे गए हैं, सुनकर समझा कि पृथ्वीका भार कम हुआ।।२२।।

आभासार्थ : पश्चात् उन ब्राह्मणाृने ही कहा कि भीम-दुर्योधनकी परस्पर गदायुद्ध अभी तक चल रही है. यह सुनकर पृथ्वीका भार तो उतर गया, अब युद्धका कोई उद्देश नहीं है, जैसे पांच पाण्डव जीते हैं, वैसे ही एक दुर्योधन भी जीता रहे, मरनेसे क्या लाभ? याृ निश्चय कर कुरुक्षेत्रकी परिक्रमा करते हुए वहां आए, जिसका वर्णन 'स भीमदुर्योधनयोः' श्लोकमृ करते हैं.

स भीमदुर्योधनयोर्गदाभ्यां युध्यतोर्मृधे।
वारयिष्यन् विनशनं जगाम यदुनन्दनः ।।२३।।

श्लोकार्थ : भीमसेन और दुर्योधन गदायुद्ध कर रहे हैं, यह सुनकर उन्हृ मना करनेके विचारसे बलदेवजी कुरुक्षेत्र पधारे।।२३।।

व्याख्यार्थ : बलरामजी गदाआृसे लड़ते हुए भीमसेन और दुर्योधनको युद्ध करनेसे रोकनेकेलिए कुरुक्षेत्र आए, इस समय आनेमृ पक्षपातकी शंका नहीं, इसलिए उसका आगमन हुआ, क्यृकि यदुनन्दन हैं, अतः यदुकी तरह विचारपूर्वक कार्य करनेवाले हैं, स्नेह आदि कारणसे पक्षपात करनेवाले नहीं है।।२३।।

आभासार्थ : पश्चात् जो वहां उपस्थित थे उनको शंका हुई, यृ 'युधिष्ठिरस्तु' श्लोकमृ कहते हैं.

युधिष्ठिरस्तु तं दृष्ट्वा यमौ कृष्णार्जुनावपि।
अभिवाद्याभवंस्तूष्णीं किं विवक्षुरिहागतः ।।२४।।

श्लोकार्थ : युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, श्रीकृष्ण और अर्जुन, बलराम को अभिवादन कर चुप हो गए, मनमृ विचारने लगे यहां क्यृ आए हैं? और न जाने क्या कहृगे?।।२४।।

व्याख्यार्थ : 'तु' शब्दसे साधारण और शत्रुआृको आनन्द उत्पन्न हुआ, कारणकि बलरामजी आए हैं. युधिष्ठिर प्रभृति अन्यृको आनन्द न हुआ, किन्तु विचार हुआ कि क्यृ आए हैं? क्या कहृगे? युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, अर्जुन और श्रीकृष्ण अभिवादन कर चुप हो गए. जो कर्तव्य करना था, उसका प्रयोजन तो निवृत्त हो गया, केवल वह वाणीमृ ही रह गया है, यृ उसकी ही उत्प्रेक्षा(सम्भावना) है।।२४।।

आभासार्थ : पश्चात् स्वयं(खुद) ही स्वागत प्रकट करने लगे, यृ 'गदापाणी' श्लोकमृ कहते हैं.

गदापाणी उभौ दृष्ट्वा संरब्धौ विजयैषिणौ।
मण्डलानि विचित्राणि चरन्ताविदमब्रवीत् ।।२५।।

श्लोकार्थ : क्रोधमृ भरे हुए, जयकी इच्छावाले, गदा हाथमृ लिए विचित्र दाव करते हुए भीम और दुर्योधनको देखकर बलदेवजी उनको यह कहने लगे।।२५।।

व्याख्यार्थ : लड़ाई करनेकेलिए दोनूके हाथमू गदा थी, साधन था क्रोध, दोनू क्रोधमू थे और दोनू चाहते थे कि हम जीतू. इसलिए युद्ध बन्द नहीं होता था. जीतनेकेलिए दोनू प्रयत्न भी कर रहे थे अर्थात् अनेक प्रकारके दांव-पेचसे जीतनेकेलिए खेलते थे, जो इस तरह लड़ते रहते हैं, वे कदापि स्वतः लड़ना नहीं छोड़ते हैं, इस कारणसे उनकी युद्धसे निवृत्ति ज्ञानसे ही होनेवाली थी, जिस ज्ञानोपदेश देनेकेलिए बलरामजी पधारे थे, अब जो कहना है, वह निम्न श्लोकमू कहते हैं।।२५।।

आभासार्थ : पहले दोनूकी प्रशंसा 'युवां' श्लोकमू करते हैं.

युवां तुल्यबलौ वीरौ हे राजन् हे वृकोदर।
एकं प्राणाधिकं मन्ये उतैकं शिक्षयाधिकम् ।।२६।।

श्लोकार्थ : हे राजन्! हे वृकोदर! तुम दोनू तुल्य बलवाले वीर हो एक बलमू अधिक है और एक शिक्षणमू अधिक है।।२६।।

व्याख्यार्थ : दोनूको पृथक्-पृथक् सम्बोधन दिए हैं-हे राजन्!, हे वृकोदर! 'हे राजन्' इसी सम्बोधनसे यह बताया है कि एक भी जीवित होगा तो राज्यको प्राप्त करेगा, यह निश्चित है. 'भीमश्च बलभद्रश्च' इस वाक्यानुसार भीमके समान दुर्योधन कैसे होगा? यदि याू कहो तो उसका उत्तर यह है कि भीमसेनको दुर्योधनसे बलमू अधिक मानता हूं अर्थात् भीम दुर्योधनसे बलवान् है, दुर्योधन भीमसे शिक्षासे अधिक है, क्याूकि उसको मैंने ही शिक्षा दी है, इसलिए विशेष है।।२६।।

आभासार्थ : यों हैं तो क्या होगा? इस पर 'तस्मादेकतरस्य' श्लोकसे उत्तर देते हैं.

तस्मादेकतरस्येह युवयोः समवीर्ययोः।
न लक्ष्यते जयोन्यो वा विरमत्वफलो रणः ।।२७।।

श्लोकार्थ : तुम दोनू समान बलवाले हो इसलिए कोई एक न जीत सकेगा न हारेगा, इसलिए लड़ना निष्फल होनेसे युद्ध बन्द करो।।२७।।

व्याख्यार्थ : बलका अंश शिक्षाके अंशसे समान है, अतः तुम दोनूमूसे एककी भी जय वा पराजय नहीं होगी, अतः यह लड़ाई केवल क्लेशरूप है, इससे कोई फल नहीं निकलेगा, इसी कारण युद्ध बन्द करो।।२७।।

आभासार्थ : इस प्रकार कहने पर भी युद्ध बन्द नहीं किया, जिसका

है अंग जिसके, अथवा क्रतु है अंगॄमॄ जिसके, ऐसे भगवान् यज्ञपुरुषका भजन यजन कराया, उस पक्षमॄ याजनमॄ राम कर्म है और यजनमॄ भगवान् कर्म है. 'क्रतोः अङ्ग' इससे यजमान कहा. ''पुरुषस्य च कर्मार्थत्वात्'' पुरुष कर्मरूप है, इस न्यायसे 'यक्ष्ये' यॄ संकल्प कर पश्चात् यज्ञ करने लगे. यह संकर्षण भूतॄ पर दया कभी नहीं करते हैं, क्यॄकि प्रलयकर्ता हैं, वह यज्ञकर्ता कैसे हुए? सबसे जो मैत्री करता हो वह यज्ञका अधिकारी होता है, इस शंकाके मिटानेकेलिए कहा है कि सबसे लड़ना जिसने छोड़ दिया है अर्थात् अब सबसे मैत्री ही करते हैं।।३०।।

आभासार्थ : अनन्तर दक्षिणामॄ उनको ज्ञान दिया, जिसका वर्णन 'तेभ्यो विशुद्धविज्ञानं' श्लोकमॄ वर्णन करते हैं.

तेभ्यो विशुद्धविज्ञानं भगवान् व्यतरद्विभुः।
येनैवात्मन्यदो विश्वमात्मानं विश्वगं विदुः ।।३१।।

श्लोकार्थ : सर्व समर्थ भगवान् बलदेवने इनको विशुद्ध ज्ञान दिया, जिससे आत्मामॄ सर्व विश्वको और विश्वमॄ आत्माको जान गए।।३१।।

व्याख्यार्थ : ''दक्षिणा ज्ञान संदेशः'' इस वाक्यसे ''आत्मलाभान्न परं विद्यते'' इस श्रुत्यनुसार ''आत्मदक्षिणं वै सत्रम्'' इस वाक्य और ''आत्मानमेव दक्षिणा नीत्वा स्वर्ग लोकं यन्ति'' इस वचनानुसार ज्ञानरूप दक्षिणा ही दक्षिणा है. विशुद्ध ज्ञानका तात्पर्य है, उपाधिरहित अनुभवरूप ज्ञान, कर्ममॄ आसक्तिमॄ ऐसा ज्ञान अकस्मात् कैसे उत्पन्न हो गया? इसका उत्तर देते हैं कि ज्ञान देनेवाले सर्व समर्थ भगवान् बलदेवजी हैं. भगवान् होनेसे वैसा ज्ञानवानपण है और वितरण भी है, अतः वितरणमॄ दानपात्रकी उपेक्षा नहीं है ऐसे विशुद्ध ज्ञान पानेसे उनकी क्या अवस्था हुई? जिसका उत्तर देते हैं कि परोक्ष भी विश्वको आत्मामॄ देखा और विश्वमॄ आत्माको देखा, इस प्रकारकी ऋषियॄकी अवस्था हो गई।।३१।।

आभासार्थ : पश्चात् दक्षिणा दानके अनन्तर यज्ञकी समाप्ति की, यॄ 'स्वपत्न्यावभृथस्नातो' श्लोकमॄ कहते हैं.

स्वपत्न्यावभृथस्नातो ज्ञातिबन्धुसुहृद्वृतः।
रेजे स्वज्योत्स्नयेवेन्दुः सुवासाः सुष्ठ्वलंकृतः ।।३२।।

श्लोकार्थ : बलरामजीने अवभृथ स्नान स्वपत्नीके साथ किया. ज्ञाति, बांधव और मित्रॄसे वेष्टित सुंदर वस्त्र तथा आभूषण धारण किये. बलदेवजी स्त्रीके साथ यॄ शोभा पाने लगे जैसे चन्द्रमा चांदनीसे शोभा देता है।।३२।।

वर्णन निम्न दो श्लोकोमृ करते हैं.

न तद् वाक्यं जगृहतुः बद्धवैरौ नृपार्थवत् ।
अनुस्मरन्तावन्योन्यं दुरुक्तं दुष्कृतानि च ।।२८।।
दिष्टं तदनुमन्वानो रामो द्वारवतीं ययौ ।
उग्रसेनादिभिः प्रीतैर्ज्ञातिभिः समुपागतः ।।२९।।

श्लोकार्थ : हे नृप! परस्पर कहे हुए दुर्वचन और कुकृत्यको याद करते हुए दोनृाने आपसमृ शत्रुता कर ली है, अतः बलदेवजीके लाभवाले वचन नहीं माने।।२८।।

तब बलरामजीने समझ लिया कि मेरे भी वचन नहीं मानते हैं, तो इनका प्रारब्ध ही यृा है, इसलिए आप द्वारका पधारे. उग्रसेन आदि सब बलरामजीको आया हुआ देखकर प्रसन्न हुए।।२९।।

व्याख्यार्थ : बलदेवजीकी लाभकारी शिक्षा भी नहीं मानी, क्यृाकि आपसमृ शत्रुता कर ली थी. यद्यपि आपकी शिक्षा अर्थवाली थी, बाहर तो लड़ाई बन्द करनेके विचार आते थे, किन्तु भीतरका हृदय युद्धसे हटता नहीं था, इससे बलरामजीने समझा कि लड़ाई बन्द नहीं करते हैं, यह भाग्यके आधीन है, जैसा भाग्य होगा, वैसा ही होगा, यृा विचार कर आप यात्रा करते हुए द्वारका पहुंचे. बहुत समयसे बलरामजी घर आए हैं, यह देख जैसे किसीका धन चला गया हो, वह फिर मिल जावे तो जैसी उसको प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता उग्रसेनादिको हुई, जो आकर उन्हृ घर ले गए।।२८-२९।।

आभासार्थ : यात्रा पूर्ण न होनेसे फिर नैमिषारण्यमृ आए, इतनेमृ वर्ष भी पूर्ण हुआ.

तं पुनर्नैमिषं प्राप्तम् ऋषयोऽयाजयन् मुदा ।
क्रत्वङ्गं ऋतुभिः सर्वैः निवृत्ताखिलविग्रहम् ।।३०।।

श्लोकार्थ : नैमिषारण्यमृ आए हुए बलरामजीको ऋषियृाने यज्ञ कराया अथवा क्रतु जिसका अंग है, ऐसे भगवान्का क्रतु द्वारा भजन कराया, इन क्रतुआृके करनेसे सर्व प्रकारका विग्रह करना, वह भी निवृत्त हो गया।।३०।।

व्याख्यार्थ : इनके आनेके पश्चात् ऋषियृाने इनको प्रसन्नचित्त हो यज्ञ कराया, सर्व क्रतुआृसे अर्थात् अग्निहोत्र आदिसे यज्ञ कराया, पिता जीवित होते हुए सब याग कैसे किए? इस शंकाकी निवृत्तिकेलिए कहा है, कि 'क्रत्वङ्ग' क्रतु

व्याख्यार्थ : रेवती बलरामजीकी स्त्री है, उसके साथ यज्ञान्त स्नान किया. ज्ञाति आदिसे वेष्टित हो केवल स्नान किया. पश्चात् शोभाका वर्णन करते हैं, शोभामृ पत्नी कारणभूत है, वे वैसे शोभा पाने लगे जैसे चन्द्रमा चान्दनीसे शोभा पाता है, नहीं तो दिवस(दिन)मृ धूसर चन्द्रमा शोभता नहीं, यज्ञान्त स्नान कर लेनेके बादकी परम शोभाको पाने लगे, जिसमृ कारण लौकिक सुन्दर वस्त्र और श्रेष्ठ आभरण थे।।३२।।

आभासार्थ : 'ईदृग्विधानी' श्लोकसे उपसंहार करते हैं.

ईदृग्विधान्यसंख्यानि बलस्य बलशालिनः ।
अनन्तस्याप्रमेयस्य मायामर्त्यस्य सन्ति हि ।।३३।।

श्लोकार्थ : महान् बलवाले, अनन्त, अप्रमेय, मनुष्यरूप बलदेवजीके ऐसे अगणित चरित्र हैं।।३३।।

व्याख्यार्थ : जैसे यह तीर्थ यात्राका एक चरित्र है, ऐसे अगणित उनके चरित्र हैं, क्यृकि वे बलवान् हैं अतः बलके कार्य बहुत ही करृगे. वह चरित्र पराजयरूप भी नहीं हैं, कारणकि, यह अनन्त है. तो उनके चरित्र क्यृ नहीं कहते हो? यदि यृ कहो तो, उसका उत्तर है 'अप्रमेयस्य' जिसके चरित्रृको कोई जान ही नहीं सकता है. देह ग्रहण कर अवतार ले, जो चरित्र किए हैं वह चरित्र विचारे जाते हैं, न कि अलौकिक चरित्र, अन्यथा, सब ही वैसे हो जावृ, इस शंकाका निवारण करते है कि 'मायामर्त्यस्य' मायासे मनुष्य दीखते हैं, अतः इनके चरित्रकी गणना नहीं हो सकती है. यह स्तुति परायण वाक्य नहीं हैं क्यृकि 'सन्ति' अनन्त चरित्र हैं, यह अर्थ ही उचित है. अवतार तो किसी कार्यकेलिए किसीके धर्मको सिद्ध करता है, किसीका कैसा और किसीका कैसा, नहीं तो, अवतार धारण ही व्यर्थ हो जावे, इससे विशेष लिख नहीं सकते, कारणकि ग्रन्थका बहुत विस्तार होगा, यह भय होता है, किन्तु अनेक चरित्र हैं।।३३।।

आभासार्थ : बलरामजीके चरित्रृका श्रवण भगवद्भजनकेलिए उपयोगी है, क्यृकि उससे बुद्धि एक ही स्थान पर स्थिर रहती है और दृढ़ हो जाती है, यृ 'शृण्वन्गृणंश्च' श्लोकमृ कहते हैं.

शृण्वन् गृणंश्च रामस्य कर्माण्यद्भुतकर्मणः ।
सायं प्रातरनन्तस्य विष्णोः स दयितो भवेत् ।।३४।।

श्लोकार्थ : अद्भुत चरित्र बलरामजीके चरित्रृको जो पुरुष सायं प्रातः

श्रवण करे, वह भगवान्‌को प्रिय होता है।।३४।।

व्याख्यार्थ : 'शृण्वन् तथा गृणन्' दो पद हैं जिनका आशय है कि केवल चरित्र सुनना ही नहीं, किन्तु स्वयं(खुद) उनका जोरसे उच्चारण भी करते रहना, जैसे दूसरे भी सुने और अपने चित्तमॄ भी स्थिर हो जावे, जो भगवान्‌का भक्त है, वह भावान्तरको प्राप्त स्वरूपके चरित्र क्यॄ सुनेगा? इसका उत्तर देते हैं कि 'अद्भुतकर्मणः' आपके चरित्र अद्भुत है, इसलिए श्रवण करने चाहिए, दुर्योधनादि यॄ समझते हैं, कि जैसे पाण्डवॄके पक्षमॄ श्रीकृष्ण हैं, वैसे बलरामजी हमारे पक्षमॄ हैं, जिससे दोनॄ समान हैं अतः हम जीतॄगे, ऐसी इनकी बुद्धि बलरामजीने ही भूभारहरण करनेकेलिए की थी, यथार्थमॄ कहते थे, वैसे ही सहाय भी करते थे तो भी मारते ही हैं. अद्भुतकर्मा बलरामजीको क्यॄ कहा? अद्भुतकर्मा तो श्रीकृष्ण ही है, जिसका समाधान आचार्यश्री करते हैं, कि श्रीकृष्ण और राम एक ही हैं, स्वतन्त्रतासे श्रवण करने पर, उसमॄ ही भक्ति होगी. श्रवण कर्माङ्ग है, उसके करनेका समय बताते है, सायंकाल और प्रातःकालमॄ श्रवण करना चाहिये. बलरामजी अनन्त हैं, अर्थात् शेषरूप हैं और विष्णु अर्थात् पुरुषोत्तमके भी रूप हैं. अतः इनके चरित्र जो श्रवण करता है वह भगवान्‌को प्रिय होता है. कैसे प्यारा होता है? वह दृष्टान्त देकर समझाते हैं, कि जैसे परपोता प्रिय होता है. यह शेषजीके चरित्रॄके श्रवणकर्ताको भी, भगवान् समझते हैं, कि हमारे सेवकका सेवक है, अतः प्रपौत्रके समान है इससे प्रिय है, इस प्रकार फल कहकर यह चरित्र समाप्त हुआ बताया है, सर्व प्रकारसे उनकी कीर्तिकी स्थापनाका निरूपण किया।।३४।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कंधके ७६वॄ अध्यायकी श्रीमद्‌वल्लभाचार्यचरण द्वारा विरचित श्रीसुबोधिनी(संस्कृत–टीका)के सात्त्विक फल अवान्तर प्रकरणके द्‌वितीय अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ७७

श्रीकृष्ण द्वारा सुदामाजीका स्वागत

संपत्तिर्भगवन्मित्रे द्वाभ्यामत्र निरूप्यते।
लोकावगतहेतूनामभावात्केवले हरेः।।कारि.१।।

कारिकार्थः जिस मित्रको भगवान्ने ऐश्वर्यादिक नहीं दिये हैं, वैसे केवल मित्रके पास सम्पत्तिका अभाव है, जिसका प्रमाण यह है कि उसके पास राज्यादिक वैभव नहीं है।।१।।

एकत्रिंशे तथाध्याये कृष्णमित्रस्य सर्वथा।
संपत्त्यभावो वाक्यच्च स्थाप्यते सविशेषतः।।कारि.२।।

कारिकार्थः इकत्तीसवृ अध्यायमृ कृष्णके मित्रके पास सर्वथा सम्पत्तिका अभाव कहा है, फिर बत्तीसवृ अध्यायमृ भगवान्की विशेष कृपासे असीम सम्पत्तिकी प्राप्तिकी कथा कही है।।२।।

अङ्गत्वेन बलस्यात्र श्रुत्वा लीलां विचक्षणः।
निर्विण्णो भगवल्लीलां विशेषेणात्र पृच्छति।।कारि.३।।

कारिकार्थः राजा परीक्षित् बलदेवजीके चरित्र सुनकर उदास हुआ, अतः विशेषरूपसे भगवान्की लीलाआृका प्रश्न करता है।।३।।

कारिकार्थ समाप्त.

आभासार्थ : पूर्व अध्यायमृ बलभद्रकी लीलाएं सुनकर भगवान्की लीलाआृके सुननेकी इच्छा होनेसे, राजा परीक्षित् 'भगवन् यानि' श्लोकसे ४ श्लोकमृ भगवान्की लीलाआृके प्रश्न करता है.

राजोवाच

भगवन् यानि चान्यानि मुकुन्दस्य महात्मनः।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य श्रोतुमिच्छामहे प्रभो।।१।।

श्लोकार्थ : परीक्षितने कहा कि हे भगवन्! अनन्त पराक्रमी महात्मा मुकुन्द भगवान्के जो अन्य चरित्र हैं, वे भी हे प्रभो! मैं सुनना चाहता हूं।।१।।

व्याख्यार्थ : परीक्षितने, श्रीशुकदेवजीको 'भगवन्' संबोधनसे यह बताया है, कि मेरी भगवान्के चरित्रमृ श्रद्धा है और उसका ज्ञान भी है जितने प्रसिद्ध हैं वे और 'च' पदसे कहता है कि जो प्रसिद्ध नहीं हैं वे तथा जो दूसरे

ग्रन्थामृ कहे हैं अथवा वहां भी नहीं कहे हा वे भी, मैं आपसे सुनना चाहता हूं. यह शंका भी नहीं करनी चाहिए, कि भगवान्के अनेक चरित्र नहीं है, क्याकि यदि भगवान्के चरित्र बहुत प्रकारके न हावे तो सर्व प्रकारके जीवाकी मुक्ति सिद्ध न होती. देशकालकी रुकावटके सिवाय सर्वकी ही चरित्र श्रवणादिसे ही मोक्षकी सिद्धि हुई है. मेरी तो, इस प्रकारकी श्रद्धा है, अतः सब ही चरित्र सुनने चाहिये, केवल मोक्षार्थिपनसे ही नहीं, किन्तु महत्त्वार्थी और आत्मार्थी कार्य सिद्धिकेलिए, जो पराक्रमरूप चरित्र किए हैं, वे भी सुनना चाहता हूं. उसमा बहुलता है, कारणकि, आप अनन्तवीर्य (पराक्रम)वाले हैं, इत्यादि कारणासे केवल मैं नहीं किन्तु सकलजन सुनना चाहते हैं, इस प्रकार श्रवणेच्छाकी पूर्ति आपसे ही होगी न कि दूसरे किसीसे, क्याकि आप 'प्रभु' सर्वसमर्थ, षडगुणैश्वर्य सम्पन्न हैं।।१।।

आभासार्थ : आपने बहुत चरित्र सुने हैं फिर क्या इच्छा हुई है? इसका उत्तर 'को नु श्रुत्वा' श्लोकमा देता है.

को नु श्रुत्वाऽसकृद्ब्रह्मन्नुत्तमश्लोकसत्कथाः।
विरमेत विशेषज्ञो विषण्णः काममार्गणैः ।।२।।

श्लोकार्थ : हे ब्रह्मन्! कामदेवके बाणासे खेदित कौनसा मनुष्य है, जो उत्तमपुरुष जिनके गुणगान करते हैं, वैसे भगवान्की सुंदर कथाएं बार-बार सुनकर भी विशेष जाननेकी इच्छा न करे, गुणानुरागी कोई भी पुरुष भगवान्की कथासे तृप्त नहीं होता है अर्थात् सदैव उस रसके पानकी इच्छा करता रहता है।।२।।

व्याख्यार्थ : बार-बार सुनकर भी, कौन ऐसा हो, जो सुननेसे विराम पावे? हे ब्रह्मन्! संबोधनसे सिद्ध किया है कि श्रीशुकदेवजी सर्वज्ञ होनेसे, उनकी भी इसमा सम्मति है, उसमा भी जिसकी कथाआका गान उत्तम पुरुष करते रहते हैं, ऐसी कथाएं सद्रूप हैं और स्वतः भी पुरुषार्थरूप हैं, अथवा श्रोताआको चारा पुरुषार्थोंको देनेवाली है, सर्व प्रकारसे, उत्तम वैसी सत्कथाआसे कौन है जो विराम पावे.

सत्कथाएं तो बहुत ही हैं, उन कथाआ तथा भगवान्के सुने हुए गुणाका बार-बार स्मरण करना चाहिए फिर नवीन चरित्र सुननेकी क्या आवश्यकता है? वा उससे क्या लाभ? जिसके उत्तरमा कहा है कि 'विशेषज्ञः' जो मनुष्य विशेष आनन्द रसको जाननेवाला है, वह सदैव विशेषकी इच्छा करता है, अतः एक

चरित्र सुननेसे जिस रसकी प्राप्ति हुई, फिर उस रससे विशेष रसकी इच्छा होनेसे, दूसरा चरित्र सुनना चाहता है. दूसरे चरित्र श्रवण करने पर, पहलेसे दूसरे चरित्र सुननेमॅू शतगुण आनन्द आता है. अनन्तर तीसरे चरित्र श्रवणसे उससे भी शत(सौ) गुणा अधिक हैं, इसी तरह उत्तरोत्तर श्रोताओंको अधिक रसकी प्राप्ति होती है. यह अनुभवसे सिद्ध है, इसलिए कोई भी विशेषज्ञ उससे कैसे विराम पावेगा?

पूर्व चरित्र श्रवणसे अन्तःकरणकी मलीनता नष्ट होगी वैसे ही उत्तरोत्तर अधिक चरित्रके स्वरूपके ज्ञान हो जानेसे, विशेषज्ञता होना उचित ही है, वहां कदाचित् संसारमॅू व्यावृत अन्य धर्मोंसे बन्धमॅू जो गृहीत हैं, वे विराम पावे भी, और जो विरक्त हैं वह गुणोंको कैसे श्रवण नहीं करेगा? वैराग्य होनेमॅू, उपपत्ति बताते हैं, अनेक प्रकारके कर्म हैं, वे अन्तःकरणमॅू स्थित हैं, उसे तोड़कर बाहर निकल आते हैं. बाहर स्थित भीतर चले जाते हैं, इसी तरह उपाय हुआ, क्योंकि यह पुरुष काममय है, अतः सबसे पृथक् सर्वानन्दके हेतु चरित्रसे यह कैसे विराम पाएगा?।।२।।

आभासार्थ : जीव स्वयं ही भगवान्के चरित्र श्रवणसे विराम नहीं पाता है, यों कहकर, अब कहते हैं, कि यदि विराम पावे तो न केवल आत्माका ही कामनाओंसे नाश करता है, किन्तु सकल इन्द्रियोंको भी विफल बनाता है. अतः इन्द्रियोंकी सफलता तो भगवान्के चरित्र श्रवणादिसे ही होती है, यों 'सा वाग्' श्लोकसे सिद्ध करते हैं.

सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीते करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च ।
स्मरेद्वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः ।।३।।

श्लोकार्थ : जो वाणी भगवान्के गुणोंका गान करती है, वह वाणी है. जो हाथ उनकी सेवा करते हैं, वे हाथ हैं. जो मन अचल और चल पदार्थोंमॅू वास करनेवाले भगवान्के चरित्रोंको स्मरण करता है, वह मन है. जो कान उनकी पवित्र कथाएं सुनते हैं, वे कान हैं।।३।।

व्याख्यार्थ : वह वाणी देवतारूप है, इससे यह समझाया है, कि दूसरोंकी दैत्यरूप वाणी है, यों इनकी इन्द्रियोंके वागादिरूपका विभाग किया है, अथवा उनकी(अन्योंकी) वागादि इन्द्रियां आभासरूप हैं. यदि दैत्यरूप वा आभासरूप न होती तो, भगवान्से उत्पन्न, वे इन्द्रियां भगवान्के परायण न होकर कैसे अन्य

परायण होवे अथवा ''द्वया ह प्राजापत्या'' इस श्रुतिमॄ इन्द्रियां देवतारूप हैं, यह देवपक्ष कहा है और ''ते ह वाचमूचुः'' इन वाक्यॄसे वाणीका शब्द व्यवहार करना कहा है, तात्पर्य यह है, कि जो वाक् देवतारूप है, उसका शब्द व्यवहार भगवत्परायण है और असुरॄकी तो सर्व इन्द्रियां आसुर हैं, इसलिए वे इन्द्रियां वागादि कहलानेके योग्य ही नहीं हैं.

श्रुतिमॄ इन्द्रियॄकी दो प्रकारसे उत्पत्ति कही है, एक साक्षात् भगवान्से और दूसरी अन्यॄसे, जैसाकि ''एतस्माज्जायते प्राणो मन इन्द्रियाणि च'' इस परमात्मासे प्राण, मन और इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं तथा ''पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः'' स्वयम्भू भगवान्से उत्पत्ति कही है, इसलिए इन्द्रियां भगवान्को पहुंच नहीं सकती हैं. पुराण आदि शास्त्रॄमॄ अहंकारसे भी इन्द्रियॄकी उत्पत्ति कही है, वहां जो भगवान्की सेवाके योग्य है उनकेलिए सामग्री भगवदीय ही है. उस विषयमॄ ही उस वाणी आदिका सदुपयोग होता है, ब्रह्म वा अहंकारसे निर्मित इन्द्रिय वर्ग ऐसा व्यवहार नहीं कर सकती, कारणकि उनका व्यवहार राजस और तामस है, अतः जो सात्त्विक वा निर्गुण भगवदीय होते हैं, उनका ही भगवान्से बनी हुई इन्द्रियॄसे सम्बन्ध है, उसमॄ परीक्षाकेलिए यह प्रकरण आरम्भ किया जाता है. वह ही वाणी अभिप्रेत है, जो वाणी उनके गुणॄका जोरसे प्रेमपूर्वक उच्चारण करते हुए उनको निगलती रहती है, भगवान्की केवल कथा कहानीकी तरह दूसरा भी कह दे, जो उत्कर्षवाले हैं वे उस प्रकारसे सर्वदा भक्ति पूर्वक उच्चारण करते हैं, कारणकि, उनकी वह वाणी है, जो भगवान्ने बनाई है, इसलिए उसमॄ वहां भी अव्याप्ति वा अतिव्याप्ति नहीं है. यह ही समझना है. आगे भी यॄ जानना चाहिए. हस्त(हाथ) वे हैं जो भगवान्की ही सेवा करते हैं. लौकिक कर्मको भी भगवत्पनसे सेवारूप समझकर करना चाहिए वह भी यज्ञरूप होता है, अथवा 'तत्' शब्दसे पुरुषोत्तम समझना चाहिए, यज्ञ तो पुरुषोत्तमका कर्म है, इसलिए उसमॄ अतिव्याप्ति नहीं है, 'च' पदसे बहिर्मुख जो सेवकॄके सेवक हैं उनके भी हस्त ग्रहण किए गए हैं, सेवकॄके गुणॄका वर्णन तो आन्तर होनेसे करनेमॄ समर्थ नहीं है. प्रसंग आने पर बाहरका तो होता ही है, 'मनश्च' यहां 'च' पद पूर्व कहे हुए कर्मके संग्रहकेलिए है न कि सेवकॄकेलिए.

द्वितीय स्कन्धमॄ अपनी देहके अन्दर हृदयाकाशमॄ स्थित परमात्माको धारणासे स्मरण करना कहा है. यहां उससे विशेष प्रकारसे कहते हैं, कि अचल

और चल सकल पदार्थोंमृ व्याप्त भगवान्का स्मरण करे. सामान्य वचनसे भी दूसरे भी दो रूप ग्रहण किए जा सकते है. १.आधिदैविक २.अन्तर्यामिरूप उनमृ भी उत्तमत्व आदि भेदकी कल्पना करनी चाहिए, उत्तम वे हैं जो पहले कहे हैं, सर्वत्र भगवत् दर्शन तो भगवान् द्वारा अनुगृहीत अथवा जिसका ज्ञानमार्गमृ ग्रहण हुआ हो, उनको होता है, ऐसाृकी स्मृति नष्ट हो जाती है केवल अनुभव ही होता रहता है.

जीवाृका हित करनेवाली, जो भगवान्की पुण्यप्रद लीलाएं हैं, वे प्रकरण विरुद्ध होनेसे, ग्रहण नहीं करनी चाहिए क्याृकि यहां प्रकरण भगवदीय इन्द्रिय वर्गका है, उन भगवदीय इन्द्रियाृको पुण्यजनक कथाआृके सुननेकी आवश्यकता नहीं हैं, कारणकि, ये इन्द्रियां कर्ममार्गीय नहीं हैं. 'कर्ण' शब्द एक वचन कहनेका तात्पर्य यह है, कि वाम[१] कर्ण देवहू कहलाता है इसलिए उत्तर कर्ण ही भगवदीय होनेसे, ऐसे भगवच्चरित्र सुनना चाहता है, जो 'कर्ण' भक्तिको उत्पन्न करनेवाली कथाको सुनता है वह 'कर्ण' सर्व संमत है, उसको छोड़कर जो पुण्यप्रद कथाआृको सुनता है वह उत्तर कर्ण है वा पूर्वोक्त ही कर्ण है इससे प्रथम पक्षकी मुख्यता बतानेकेलिए उसका अनुवाद किया है।।३।।

१.पितृहुदक्षिणः कर्ण उत्तरो देवहूः स्मृतः

आभासार्थ : इन्द्रियाृका निरूपण कर अंगोका निरूपण करते हुए उत्तमांगका 'शिरस्तु' श्लोकमृ निरूपण है.

शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमेत्तदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः ।
अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां पादोदकं यानि वहन्ति नित्यम् ।।४।।

श्लोकार्थ : जो शिर भगवान्की स्थावर जंगमरूप दोनाृ मूर्तियाृको प्रणाम करता है, वह शिर है, जो नेत्र सर्व जगतको भगवद्रूप देखते हैं, वे नेत्र हैं और जो अंग भगवान् विष्णुके चरणोदकका तथा भगवद्भक्ताृके चरणजलका नित्य सेवन करते हैं, वे अंग हैं।।४।।

व्याख्यार्थ : स्थावर और जंगमात्मक जिसकी मूर्तियां हैं, उस विष्णुके इन दोनाृ स्वरूपाृको जो शिर प्रणाम करता है, वह शिर है. जो याृ नहीं करता है, वह भाररूप है, याृ पहले ही निरूपण किया है, 'तु' शब्द उसको पृथक् करता हैं. यह जिससे हो सके, वह भी इन्द्रियाृका कार्य है, तो भी फल दशामृ गिना जाता है. याृ वह कहते हैं, कि समग्र जगत् भगवान्का ही रूप देखे, तब वे नेत्र कहे जाते हैं.

यहां यह साधनका क्रम भी निरूपण किया है, दूसरे मार्गकी रीतिके अनुसार गुणाृके कीर्तन पर्यन्त जब अधिकार सिद्ध हो जावे, पश्चात् भगवदीय, जो कीर्तन करते हैं, वह कीर्तन प्रथम साधन है. अनन्तर सेवा करनेमृ रुचि उत्पन्न होती है, जिससे सेवा[१] होती है, बादमृ ज्ञानका उदय जब होवे, तब सर्वत्र भगवान्का अनुसन्धान होता है, ऐसे अधिकारीके बाहरके व्यापारमृ, उस(अनुसन्धान)को सिद्ध करनेवाली पुण्य कथाआृका श्रवण बन सकता है उसके पुण्याृसे नारद आदि द्वारा कथाका श्रवण सिद्ध होता है, उससे जब सर्वत्र भगवान्का साक्षात्कार सिद्ध हो जाता है, तब नमन पूर्णरीतिसे होता है. इस प्रकार क्रम सिद्धिकेलिए पहले क्या करना चाहिए, वह बताते हैं, जिससे करनेसे आवश्यक फलकी सिद्धि हो जाती है, भगवच्चरणारविन्दका जल पीछे भी सिद्धि करनेवाला है. इसलिए अन्तमृ कहा है, वे ही अंग हैं जो विष्णुके पादोदक गंगाको धारण करते हैं, 'अथ' पद देकर पृथक् क्रम दिखाते हैं, कि 'विष्णोः' अर्थात् शालग्राम आदि भगवत्स्वरूपाृका पादोदक धारण करते हैं और उसके जन अर्थात् भगवद्भक्त उनके पादोदकको नित्य धारण करते हैं, वे ही अंग हैं. नित्य धारणका तात्पर्य है, कि नित्य तीन आचमन द्वारा उस पादोदकका पान करना, इसी तरह भगवदीयपनसे ही सर्व पुरुषार्थ होते हैं, तो ऐसे भगवदीयाृका कथासे वैराग्य कैसे होगा? अर्थात् कदापि न होगा, सतत श्रवणादि करते ही रहृगे।।४।।

१.स्मरण और श्रवण सेवाके ही अन्तःपाती हैं अर्थात् जिसकी सेवामृ रुचि हो, सेवा करता है, वह स्मरण श्रवण भी करता है.

आभासार्थ : इसी तरह भगवान्के उत्कर्ष वर्णन करते हुए, श्रवण हो जानेसे शुकदेवजी भी भक्तिके आनन्द सागरमृ मग्न हो कथारंभ करने लगे, याृ सूतजी शौनकादि मुनियाृको 'विष्णुरातेन' श्लोकसे कहते हैं.

सूत उवाच

विष्णुरातेन संपृष्टो भगवान् बादरायणिः।
वासुदेव भगवति निमग्नहृदयोऽब्रवीत्।।५।।

श्लोकार्थ : सूतजी कहने लगे कि, बादरायण व्यासके पुत्र भगवान् श्रीशुकदेवजीसे राजा परीक्षितने याृ पूछा, तब श्रीशुकदेवजी वासुदेवमृ अर्थात् सत्वान्तःकरणमृ आविर्भूत स्वरूपमृ निमग्न होकर उत्तर देने लगे।।५।।

व्याख्यार्थ : राजा परीक्षितकी रक्षा भगवान्ने इसलिए ही की थी,

श्रीशुकदेवजी भी भगवान्‌मृ अत्यन्त श्रद्धावाले हैं, जिससे भगवान् अर्थात् षड्गुणैश्वर्यवान् हैं, क्यृकि, तपः परायण भगवान् बादरायणसे प्रकटे हैं, इस कारणसे ही सत्त्वान्तःकरणमृ प्रकट वासुदेव स्वरूपमृ निमग्न हो, उनसे गूढ भगवान्‌के चरित्र ग्रहण कर ही कहने लगे, यह सख्यचरित्र ११ अध्यायृसे वक्तव्य है, अतः भगवान्‌मृ हृदयका निमग्न होना साधनरूपसे कहा है।।५।।

आभासार्थ : 'कृष्णस्यासीत्' इस श्लोकसे कथा कहते हैं.

श्रीशुक उवाच

कृष्णस्यासीत् सखा कश्चिद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः।
विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ।।६।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे, कि श्रीकृष्णका कोई एक ब्राह्मण मित्र था, जो बड़ा ब्रह्मवेत्ता, इन्द्रियृके विषयृमृसे विरक्त, शांतचित्त और जितेन्द्रिय था।।६।।

व्याख्यार्थ : वह पहले भी कृष्णका ही था अब तो सखा, बालक अवस्थामृ मित्र हुआ है. 'कश्चित्' पदका आशय है कि उसमृ देवांश नहीं है, केवल सत् जीव है, तब तो उसके साथ कैसे मित्रता हुई, उससे मित्रता होनेमृ ब्राह्मण आदि सातृ विशेषण कारणरूप हैं, वे कहते हैं, जिससे षडगुणैश्वर्य युक्त भगवान् उसमृ प्रतिष्ठित हुए हैं, इस कारणसे भगवान् ही भगवान्‌का सखा बन सकता है.(१)ब्राह्मण होनेसे श्रीरूप है, क्यृकि लक्ष्मी ब्रह्मानन्द है. यह ब्रह्मका सम्बन्ध ही ब्रह्मसे सम्बन्धकी योग्यता प्रतिपादन करता है न कि जीव सम्बन्धको, यृ प्रकरणसे ब्राह्मण्यको कहा है, इससे ऐसे भावमृ जो अदृष्ट वा भगवदिच्छा उससे ही मित्रता हुई. यृ कहा जा सकता है, ब्रह्मवेत्ताआृमृ श्रेष्ठ है यह ब्राह्मण्यका परम उत्कर्ष है. ज्ञानका यह रूप है, सहज इन्द्रियार्थोंमृ रागका अभाव है. जो वैराग्यका रूप है, जिसकी आत्मा अत्यन्त शान्त है, तीनृके बाद धर्मीका निरूपण किया, उसके बाद कहा कि जितेन्द्रिय है, इससे कहा कि ऐश्वर्य धर्मयुक्त है।।६।।

यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानो गृहाश्रमी।
तस्य भार्या कुचैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधा ।।७।।

श्लोकार्थ : गृहस्थाश्रममृ रहते हुए भी भगवदिच्छासे जो मिलता था उससे अपना निर्वाह करता था, चीथड़े पहननेवाले उस ब्राह्मणकी स्त्री भी वैसी ही थी और भूखके मारे दुबली हो गई थी।।७।।

व्याख्यार्थ : जो कुछ भगवान्‌की इच्छासे प्राप्त होता था उससे वह ब्राह्मण अपना निर्वाह करता था, इससे सिद्ध होता है, कि वीर्यगुणवाला था. इस प्रकार इतना विशेष सहन करना तो, परमवीर्यका कार्य है, गृहाश्रमी अर्थात् गृहस्थ था, ऐसी अवस्था होते हुए सन्तोषमॄ रहना यह कीर्तिरूप है. यदि याॄ ऐसी दशा है, तो गृहस्थी होना उचित नहीं है. इस शंकाको मिटानेकेलिए कहते हैं, कि चीथडे धारण करनेवाले ब्राह्मणकी स्त्री भी ऐसी चीथड़ाॄवाली और दुबली थी, पहले परमहंसके गृहस्थके निर्णयमॄ जो ऐसी स्त्री प्राप्त होवे, तब वह गृहस्थाश्रम उत्तम है, यदि वैसा न हो तो पारमहंस्य श्रेष्ठ है, नहीं तो पुरुष अर्धवृगल है. याॄ पुरुषार्थ साधनमॄ खण्ड होता है. फटे कपड़ेवालेकी स्त्रीमॄ आसक्ति वा प्रेमका अभाव होता है. जो आसक्तिवान् होते हैं वे पहले ही वस्त्र और अलंकाराॄसे स्वयं अलंकृत बनते हैं. इसका भी स्त्रीमॄ रागाभाव था, क्याॄकि भूखसे कृश हो गई थी, उससे भी इसका अधिक व्रत था, पदार्थकी उत्पत्तिमॄ एक ही प्रकार था, तो भी बचे हुए भोजनसे निर्वाह कर लेनेसे स्त्रीका व्रतवती होना अधिक था. 'च' पदसे बताता है ऐसे व्रतसे दुबली होनेके साथ कुचैला(मलीन वस्त्रवाली) भी थी, इससे उसमॄ भी इसका(स्त्रीका) रागाभाव था।।७।।

आभासार्थ : उस स्त्रीको धनकी कामनामॄ हेतु कहते हैं.

पतिव्रता पतिं प्राह म्लायता बदनेन सा।
दरिद्रा सीदमाना सा वेपमानाभिगम्य च ।।८।।

श्लोकार्थ : पतिव्रता, दरिद्रा, और दुःखी वह स्त्री काम्पती हुई पास आकर कुम्हलाते हुए मुखसे पतिको कहने लगी।।८।।

व्याख्यार्थ : पति ही जिसका व्रत है, वैसी वह स्त्री थी, जैसे व्रत करनेवाला अपने व्रतका उत्कर्ष चाहता है, वैसे ही यह भी, अपने पतिसे सर्व प्रकारकी समृद्धि चाहती थी, इसलिए उसका उत्कर्ष चाहती थी पतिव्रता होनेसे अन्य प्रकार अर्थात् दूसरेसे समृद्धिकी प्राप्ति नहीं चाहती थी, अतः कुम्हलाते हुए मुखसे दीनता दिखाती हुई पतिको कहने लगी, मनमॄ कामना न हो, फिर दीनता दिखानी तो कपटरूप है, पातिव्रत्यसे विरुद्ध है, यदि कामना हो तो फिर दीनता करना तो कपट नहीं है, इस शंकाके उत्तरमॄ कहा है, कि वह पतिव्रता है, अतः पतिरूपव्रतके उत्कर्षकेलिए यह साधन है इसलिए दोष नहीं है, अपने आप अपना उत्कर्ष नहीं है, याॄ जतानेकेलिए कहते हैं, दरिद्र थी. जिससे दुःखी थी उससे कुछ

भी अर्थ नहीं, उसमू भी शरीरसे कृशता वा कष्ट था, यदि पहले ही देहका वियोग हो जावेगा, तो व्रतका भंग होगा, इस भयसे यू करने लगी क्यूकि वह पहले जैसी है, यदि यू है तो इतना समय क्यू रुक गई और किसलिए कहा नहीं, जिसका उत्तर देते हैं कि काम्पती थी, कहते हुए किसी डरसे नहीं कहा. शरीर ऐसा दुबला हो गया कि अब यह गिरेगा, अब भी न कहूंगी तो ठीक नहीं. कारणकि, काल अब बिलम्बको सहन नहीं करेगा, इसलिए सन्मुख आकर निम्न प्रकारसे पतिके मनको प्रसन्न करती हुई स्तोत्रसम कहने लगी।।८।।

आभासार्थ : 'ननु ब्रह्मन्'से साढ़े तीन श्लोकूसे उसके वाक्य कहते हैं.

ननु ब्रह्मन्भगवतः सखा साक्षाच्छ्रियः पतिः।
ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च भगवान्सात्वतर्षभः ।।९।।

श्लोकार्थ : हे ब्रह्मन्! साक्षात् लक्ष्मीके पति, ब्राह्मणूके भक्त, शरणागतवत्सल, यदुश्रेष्ठ भगवान् आपके मित्र हैं।।९।।

व्याख्यार्थ : सर्व प्रकार दुःखकी अवस्था हो तब ईश्वरकी शरण लेनेकी शास्त्राज्ञा है. आपद्धर्म होनेसे, वह पतिको सविनय समझाके कहती है. 'ननु' यह कोमलतामू संबोधनार्थ दिया है. ब्रह्मन्! यह विशेषण इसलिए दिया है, कि आप किसी भी अवस्थामू विकारको प्राप्त नहीं होते हैं. यह आपकी सिद्ध दशा है. अतः विषयभोग करते हुए भी आपका स्वरूप नाश नहीं होगा, किञ्च, कारणकि, भगवान्ने अपना स्वरूप आपमू स्थापित किया है अतः आप भगवान् है, जिससे आपका साक्षात् भगवान् मित्र है यू कहकर यह सिद्ध किया, कि उनसे कुछ भी ले लेनेमू कोई दोष नहीं है. यदि वे भी अपने तुल्य हैं, तो उसके पास दौड़कर जाना व्यर्थ है. इसके उत्तरमू कहती है कि नहीं, आपने तो भगवत्व सखा होनेके नाते प्राप्त किया है. वे तो साक्षात् आधिदैविक लक्ष्मीके स्वामी हैं, इससे सकल सम्पदाएं उनके आधीन हैं. उनके हाथमू हैं, तो भी हमको कैसे दूगे? देनेमू कारण बताती है, कि 'ब्रह्मण्यः' ब्राह्मणूके भक्त हैं और 'च' पदसे कहती है, कि स्वयं भी उदार हैं, और शरण्य भी हैं, अतः जो भी शरण जाता है उसको सब कुछ देते हैं. दूसरे 'च'से यह बताया है, कि जो शरण भी न हो, केवल उनके पास जावे, तो भी उसको निहाल कर देते हैं. यू करते रहनेसे अर्थात् सबको देते हुए धनका क्षय होगा, शेष बचा हुआ अपने लिए रखूगे, इस शंकाका निवारण करनेकेलिए कहती है, कि 'भगवान्' सर्व शक्ति पूर्ण हैं. सेवक प्रतिबन्ध करूगे? जिसके उत्तरमू

कहती है, कि नहीं करूंगे क्यूंकि 'सात्वतर्षभः' सात्वत अर्थात् परम भक्तोंके स्वामी हैं।।९।।

आभासार्थ : जो यूं है, तो क्या ? इस पर उत्तर देती हैं.

तमुपैहि महाभाग साधूनां च परायणम् ।
दास्यति द्रविणं भूरि सीदते ते कुटुम्बिने ।।१०।।

श्लोकार्थ : हे महाभाग! सत्पुरुषोंके रक्षक श्रीकृष्णके पास जाओ आप सीदायमान(दुःखी) और कुटुंबीको बहुत धन दूंगे।।१०।।

व्याख्यार्थ : प्रार्थना करती है कि उनके पास जाओ, उत्तम भाग्यके बिना कैसे भगवान्के समीप जाऊं. उत्तम भाग्य तो है ही नहीं यह इस दरिद्रावस्थासे समझमें आता है. इस पर कहती है, कि हे महाभाग! आप बड़े भाग्यवाले हो, आपका महद्भाग्य मैं देख रही हूं, क्योंकि मैं पतिव्रता हूं, पातिव्रत्यके प्रतापसे जान गई हूं, कि आप बड़भागी हो, यूं कहकर यह सिद्ध किया है, कि आपके मनमें जो यह शंका है कि मेरे पास अल्प पदार्थ हैं, इसलिए भाग्यहीन हूं, कैसे सर्वपुरुषार्थकी निधिको पाऊंगा, आपकी यह शंका व्यर्थ है. आपका भाग्य अब खुल गया है और विशेष यह है, कि जो स्वभावसे ही दरिद्र हैं, परमसाधु हैं, उनके श्रीकृष्ण ही आश्रय हैं. 'च'से यह अन्ययुक्ति कही है, ऐसे हैं तो भी कौन जानता है कि मैं जाऊंगा तो मुझे दूंगे ? इस शंकाको मिटानेकेलिए कहती है, कि बहुत धन आपको दूंगे, कारणकि आप गृहस्थ होनेसे कुटुम्बवाले हो और दरिद्रताके कारण दुःखी हो रहे हो, ऐसे ही दानके पात्र हैं, जिसमें भी, आप सर्वगुणवाले हैं।।१०।।

आभासार्थ : तूं कहती है, कि भगवान्के पास जा, वे वहां नहीं हो कदाचित् कहीं बाहर पधारे हूं तो ? जिसका उत्तर 'आस्ते' श्लोकमें देती है.

आस्तेधुना द्वारवत्यां भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः ।
स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति ।
किं न्वर्थकामान्भजते नात्यभीष्टान् जगद्गुरुः ।।११।।

श्लोकार्थ : भोज, वृष्णि और अन्धकके वे ईश्वर हैं, अब द्वारकामें विराजे हैं. जो इनके चरणोंका स्मरण करते हैं, उनको अपनी आत्मा भी दे देते हैं, तो अर्थ और काम जो इनको प्रिय नहीं है उनके देनेमें कौनसी बड़ी बात है, क्योंकि ये जगतके गुरु अर्थात् जगतके हित करनेवाले हैं, अतः वह ही दूंगे जिससे हित होवे।।११।।

व्याख्यार्थ : उनको अन्य कार्योंकी व्यग्रता नहीं है, जिससे उनके ऐश्वर्यका निरूपण करती है. भोज, वृष्णि और अन्धकॄके ईश्वर स्वामी हैं. ये तीन त्रिगुण प्रधान हैं, तो भी ''दाता जगति[१] दुर्लभः'' इस न्यायसे कदाचित् न भी देवॄ, इसका उत्तर देती है, कि जो उनके चरणकमलका स्मरण करता है, उसको बहुत देते है बहुत क्या कहूं ब्रह्मानन्द तो देते हैं, किन्तु इससे भी विशेष आत्मानन्दको देनेसे नहीं हिचकते हैं, वह भी दे देते हैं, जब वे भी देते हैं तो फिर स्मरण करनेवालेको अर्थ और काम देवे, तो इसमॄ क्या बड़ी बात है. अर्थ काम प्रभुको अत्यन्त अभीष्ट नहीं हैं, अतः वे देते हैं. लोकमॄ यह प्रसिद्ध है, कि जो अपनेको इच्छित(पसन्द) न हो वह ही बहुत दिया जाता है, किन्तु प्रभु जो अभीष्ट नहीं हैं वह मित्रको नहीं देते हैं, जो कुछ थोड़ा सा अभीष्ट भी दे देते हैं, किन्तु पहले अर्थ काम देकर पीछे मित्र वा भक्तके हितार्थ उनसे छीन लेते हैं. पात्र मिले तो भी कदाचित् क्रूरको दे देवे, इस शंकाको मिटाती हुई कहती है, कि 'जगद्गुरुः' सबको हितका उपदेश करनेवाले कैसे अहित करॄगे अथवा अनभीष्टपनमॄ हेतु है, नहीं तो जगद्गुरुत्व ही न होवे, याॄ जो स्वयं विषयासक्त हैं, वह दूसराॄको विषयाॄके त्यागका उपदेश नहीं दे सकते हैं।।११।।

१. जगत्मॄ देनेवाला दुर्लभ होता है.

आभासार्थ : इस प्रकार उसके वाक्याॄके अभ्यास करनेसे ब्राह्मणका भी मन कुछ वैसा हुआ अर्थात् वहां जानेकी इच्छा हुई, जिसका वर्णन 'स एवं' श्लोकसे करते हैं.

स एवं भार्यया विप्रो बहुशः प्रार्थितो मुहुः।
अयं हि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम्।।१२।।

श्लोकार्थ : इस तरह स्त्रीने बार-बार बहुत प्रार्थना की तब उसने सोचा कि वहां जानेसे भगवान्के दर्शन हाॄगे यह ही परम लाभ है।।१२।।

व्याख्यार्थ : अपने आप ही क्याॄ न गया? स्त्रीकी प्रार्थना करने पर जानेका विचार क्याॄ किया? भगवान्का दर्शन तो सभीको अभीष्ट है. इसका उत्तर है कि 'विप्रः' ब्राह्मण है, स्त्रीने बहुत प्रकारसे एक ही दिन बार-बार प्रार्थना इस प्रकार की, जैसे पतिको पसन्द आवे, पति प्रसन्न हो उसको स्वीकार करे, पश्चात् उसके जानेकी इच्छाका विवरण देते हैं कि यह ही महान् लाभ है, भगवान्का दर्शन ब्रह्मभावसे भी दुर्लभ है, क्याॄकि ब्रह्म भी उसको चाहता है।।१२।।

इति संचिन्त्य मनसा गमनाय मतिं दधे।

अप्यस्त्युपायनं किंचिद्गृहे कल्याणि दीयताम्।।१३।।

श्लोकार्थ : याॅ मनमॅ विचार कर, उसने जानेका विचार किया और अपनी स्त्रीसे कहा कि 'हे कल्याणि' घरमॅ कुछ भी भॅटके लायक होवे तो दे।।१३।।

व्याख्यार्थ : ब्राह्मणने विचार किया कि इस प्रकार करनेसे एक कार्य, दोनॅको सिद्ध करेगा, यह विचार गुप्त रखना चाहिए स्त्रीको भी नहीं कहना चाहिए, याॅ मनमॅ निश्चय कर लिया, यदि सुनाऊंगा तो वह भी कहेगी, कि मैं भी चलूं, याॅ निश्चय करनेके बाद जानेका विचार किया. बादमॅ जानेकी सामग्रीका विचार करते हुए समझा, कि भगवान्के यहां खाली हाथ नहीं जाना चाहिए, अतः भॅटकेलिये स्त्रीको कहा कि भॅटकेलिए कुछ भी घरमॅ है? स्त्रीको 'कल्याणि' यह संबोधन देनेका आशय यह है, कि कदाचित् घरमॅ कुछ भी न होगा तो कहींसे भी लाएगी, घरमॅ है? याॅ प्रश्नरूपमॅ कहा है, घरमॅ तो था नहीं, अब यदि स्त्री पतिको कह देवे, कि नहीं है, तो जानेमॅ रुकावट होगी इसलिए चुप रही, यदि निषेध न किया गया तो समझमॅ आया कि है. अतः पतिने कहा कि दो।।१३।।

याचित्वा चतुरो मुष्टीन् विप्रान् पृथुकतण्डुलान्।

चैलखण्डेन तान् बद्ध्वा भर्त्रे प्रादादुपायनम्।।१४।।

श्लोकार्थ : ब्राह्मणीने ब्राह्मणगृहसे चार मुट्ठी तण्डुल(चावल) मांगकर चीथड़ेमॅ बांधकर, पतिको भॅटकेलिए दिए।।१४।।

व्याख्यार्थ : वह पतिव्रता थी, पतिकी आज्ञा पालन करना अपना धर्म समझकर, चार मुट्ठी चावल मांग कर ले आई, यदि वे याॅ ही दिए जावॅ, तो मार्गमॅ खाये जा सकते हैं अतः अपने कपड़ेके चीथड़ेमॅ बान्धकर, अपने पतिको कहा कि लीजिए, यह भॅट भगवान्केलिए हैं, उनको देनी. बान्धनेका कारण यह था, कि कदाचित् दूसरेको देवे अथवा गिरा दे अतः बान्धकर दिया।।१४।।

आभासार्थ : 'स तानादाय' श्लोकमॅ कहते हैं, कि वह उस भॅटको लेकर भगवान्के पास जाने लगा.

स तानादाय विप्राग्र्यः प्रययौ द्वारकां किल।

कृष्णसंदर्शनं मह्यं कथं स्यादिति चिन्तयन्।।१५।।

श्लोकार्थ : वह उत्तम ब्राह्मण उन चावलॅको लेकर द्वारका रवाना हुआ,

मार्गमॄ विचार करता गया, कि मुझे श्रीकृष्णके दर्शन कैसे ह्यॄगे?।।१५।।

व्याख्यार्थ : 'किल' शब्दसे प्रमाण कहा है, अर्थात् वह द्वारका गया यह निश्चित सत्य है. जो कोई कहीं भी जाता है तो मार्गमॄ जाते हुए अपने अभिलषितका चिन्तन करता है, वैसे ही यह भी विचार करता हुआ जा रहा था, वह क्या विचार करता था, कि मुझे धन वा दर्शन चाहिए? इस संदेहकी निवृत्ति कर कहता है, कि मुझे तो श्रीकृष्णके दर्शन चाहिए वे होंगे कि नहीं? धन तो कितना वा कैसे प्राप्त करूंगा?।।१५।।

आभासार्थ : वहां तो दुर्ग(किला) है, दुर्गके द्वार पर रक्षक स्थित होते हैं, वे किसी नए मनुष्यको भीतर जाने नहीं देते हैं. वहां यह कैसे गया? इस शंकाको 'त्रीणिगुल्मानि' श्लोकाॄमॄ निवारण करते हैं.

त्रीणि गुल्मान्यतीयाय तिस्रः कक्षाश्च स द्विजः।
विप्रो गम्यान्धकवृष्णीनां गृहेष्वच्युतधर्मिणाम्।।१६।।
गृहं द्व्यष्टसहस्राणां महिषीणां हरेर्द्विजः।
विवेशैकतमं श्रीमद्ब्रह्मानन्दं गतो यथा।।१७।।

श्लोकार्थ : तीन रक्षकाॄकी चौकियाॄको और तीन दरवाजाॄका उल्लंघन कर आगे गया, जहां प्रवेश न हो सके, ऐसे भगवान्के सेवक अन्धक वृष्णि आदि के घर आए, ब्राह्मण था, याॄ जानकर किसीने रोका नहीं, तब तो भगवान्की सोलह सहस्र पटराणीयाॄके घरके पास पहुंचे, उनमॄसे एक घरमॄ प्रविष्ट हुआ, तब उसको ऐसा आनन्द हुआ, मानो ब्रह्मानन्दमॄ प्रविष्ट हुआ है।।१६-१७।।

व्याख्यार्थ : 'गुल्मानि' सेवाके भेद 'कक्षाः' कोटके भेद अथवा गुल्म शब्दसे पेड़ाॄसे बने दुर्ग, बिना शंकाके भीतर चले जानेमॄ कारण उसका ब्राह्मणत्व था, ब्राह्मणाॄके साथ था अथवा वह ही एक ब्राह्मण था, साधारण द्विज नहीं था, किन्तु 'विप्र' था अर्थात् विद्या, तप और भक्ति आदिसे पूर्ण ब्राह्मण था. अच्युतधर्मी अर्थात् वैष्णव, जो अन्धक वृष्णि थे उनके घराॄके मध्यमॄ, भगवान्की षोडश सहस्रा(सोलह हजार) पटराणियाॄके गृह थे. उन घराॄमॄसे एक गृहमॄ प्रविष्ट हुआ, ब्राह्मण होनेसे रोका नहीं जा सकता. यहां भगवान् विराजमान ह्यॄगे. जिसमॄ कारण, विशेष सम्पत्ति तथा शोभावाला यह गृह है, उसमॄ प्रविष्ट होते ही, जैसी अवस्था ब्राह्मणकी हुई, वैसी ही वर्णन की जाती है. मानाॄ ब्रह्मानन्दमॄ प्रवेश हुआ है. द्वारकामॄ वैकुण्ठका आवेश होनेसे, उसका ब्रह्मपन होनेसे, उसके

मध्यमॄ भगवद्गृह आनन्दांश होनेसे, वहां प्रविष्टको ब्रह्मानन्द प्राप्त होता ही है, 'यथा' शब्द, प्रकार भेद बतानेकेलिए कहा है।।१६-१७।।

आभासार्थ : पश्चात् चारॄतरफ देखनेमॄ असमर्थ, आनन्दके अनुभवसे आंखे जिसकी मानॄ बन्द हो गई है, वैसेको भगवान्ने देखा, यह 'तं विलोक्य' श्लोकमॄ वर्णन करते हैं.

तं विलोक्याच्युतो दूरात्प्रियापर्यङ्कमास्थितः।
सहसोत्थाय चाभ्येत्य दोर्भ्यां पर्यग्रहीन्मुदा ।।१८।।

श्लोकार्थ : प्यारीके पलंग पर विराजमान भगवान् दूरसे उस ब्राह्मणको देख, पलंगसे उठ त्वरित(जल्दीसे) निकट आए और प्रेमसे दोनॄ भुजा पसार उससे आलिंगन करते हुए मिले।।१८।।

व्याख्यार्थ : भगवान् प्यारी लक्ष्मणाके पलंग पर, विरतिके समय अथवा रात्रिके चौथे प्रहरमॄ विराजमान थे, वह लक्ष्मणा चिह्नसे लक्ष्मी थी, अनन्तर झटपट उठकर सामने आके दोनॄ भुजाओंसे आलिंगन कर उससे मिले, यॄ कहनेसे समानता(बराबरी) दिखलाई, 'मुदा' पदसे भीतरी प्रेमभाव प्रकट करना कहा है जिस प्रकार भगवान्के मिलने पर इस ब्राह्मणको प्रसन्नता हुई, वैसे ही भगवान्को भी हर्ष हुआ, क्यॄंकि यह भक्त था यॄ प्रकट किया।।१८।।

आभासार्थ : बादमॄ आनन्दसे पूर्णकी तरह ही लीला की, निम्न श्लोकमॄ कहते हैं.

सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः।
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून्नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः ।।१९।।

श्लोकार्थ : अपने प्रिय मित्र विप्रर्षिके अंगस्पर्शसे अति आनन्दयुक्त कमलनयन भगवान्के नेत्रोंमॄसे प्रेमके कारण आंसू गिरने लगे।।१९।।

व्याख्यार्थ : सखापनसे जैसे उसको हर्ष हुआ, वैसा ही होना योग्य था, इसलिए प्रिय भगवान्को भी वह प्रीति विषय हुआ इसमॄ पहले काल[१]का विषय भी हेतु था, उससे भी विशेष यह 'विप्रर्षि' अर्थात् ब्राह्मणोंमॄ भी उत्तम ब्राह्मण था और इसमॄ अलौकिक परमानन्द भी प्रकट हुआ है, अतः उसके संगसे अत्यन्त अन्तःसुखको प्राप्त हुए, अनन्तर वा उससे[२] प्रेमके कारण, मन, उस ब्राह्मणको देखनेकेलिये मानॄ जलरूपसे नेत्रॄ द्वारा आया जिसमॄ हेतु यह है, कि भगवान् कृपालु हैं, इसको सिद्ध करनेकेलिए ही भगवान्का 'पुष्करेक्षणः' नाम(विशेषण)

दिया है।।१९।।

१.सखाका दान जिस समय किया. २.अन्तःसुख प्राप्त होनेसे

श्लोकार्थ : उसके अनन्तर स्त्रीकृत विलक्षणता आवश्यक है, उससे सखाभाव कम होगा, इस शंकाका निम्न श्लोकोमृ उत्तर देते हैं.

अथोपवेश्य पर्यङ्के स्वयं सख्युः समर्हणम्।
उपहृत्यावनिज्यापः पादौ पादावनेजनीः ।।२०।।
अग्रहीच्छिरसा राजन् भगवांल्लोकपावनः।
व्यलिम्पद्दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुङ्कुमैः ।।२१।।
धूपैः सुरभिभिर्मित्रं प्रदीपावलिभिर्मुदा।
अर्चित्वावेद्य ताम्बूलं गां च स्वागतमब्रवीत् ।।२२।।

श्लोकार्थ : फिर उस मित्रको पलंग पर बिठाकर, पूजाकी सर्व सामग्री स्वयं लाकर भगवान्ने उसके चरण धोए, यद्यपि आप स्वयं लोक पावन हैं, तो भी आपने उसके चरणाृका जल सिर पर चढ़ाया. महाराज! पश्चात् दिव्यगन्ध, चन्दन, अगरु, केशर इनका अरगजा लगाकर सुगन्धी धूप किया तथा दीपावलियाृसे आरती की, इस प्रकार पूजा कर ताम्बूल दिया और गौदान दिया, अनन्तर स्वागत किया।।२०-२२।।

व्याख्यार्थ : पलंग पर बिठानेके बाद सखाकी पूजा स्वयं करने लगे, इसके बाद प्रक्षालन और पूजनकी सामग्री लाकर अनन्तर पाद प्रक्षालन कर वह चरणजल शिर पर धारण किया, यह धर्म है, इसमृ कोई दूषण नहीं है लोकको शिक्षा देनेकेलिए स्वयं धर्माचरण किया, हे राजन्! कहकर उसकी भी सम्मति ली है. चरणोदक धारण करनेका विशेष अभिप्राय प्रकट करते हैं, कि 'लोकपावनः' वह चरणजल लोकको पवित्र करनेवाला है, कारणकि, भगवान् सर्वलोकात्मक हैं अतः ब्राह्मणमृ भी स्वयं(खुद) विराजमान हैं, याृ पहले कहा है, इससे अपने चरणारविन्दके जलसे लोकाृको पवित्र करने लगे इससे किसी प्रकार न्यूनता नहीं होती है. क्याृकि स्वयं भगवान् हैं. अब पूजा कहते हैं, दिव्य गन्धसे ब्राह्मणके शरीरको लिप्त किया, पूजा की इससे याृ समझा जा सकता है, कि वह देव है. उसका निवारण करनेकेलिए कहा है, कि मित्र है, इसलिए पूजादि किया है. दीपाृसे आरती की, यद्यपि आरतीसे उसको वैसा सुख नहीं होता है तो भी आपने प्रसन्नता पूर्वक हर्षसे की है, आरतीके बाद, शिर पर पुष्पाृकी वर्षा कर ताम्बूल

दिया, विधिका पूर्ण पालन हो जाय इसलिए गौ भी दी, पश्चात् स्वागत वाक्य कहने लगे यहां 'गो'से वृषभ समझना चाहिए।।२०-२२।।

आभासार्थ : पश्चात् स्त्रीने भी उसकी पूजा की, पतिव्रता होनेसे उसमृ मात्सर्य आदि दोष नहीं थे, यह 'कुचैलं' श्लोकसे कहते हैं.

कुचैलं मलिनं क्षामं द्विजं धमनिसंततम्।
देवी पर्यचरच्छैब्या चामरव्यजनेन वै ।।२३।।

श्लोकार्थ : मैले-फटे जीर्ण वस्त्र पहने, मलीन, दुर्बल, जिसकी नसृ देखनेमृ आ रही हैं, ऐसे ब्राह्मणको शैब्या नाम रानी चमरसे पंखा करने लगी।।२३।।

व्याख्यार्थ : मलीन, फटे स्थूल वस्त्रवाले शरीरका संस्कार अर्थात् स्नानादिसे मैल मिटानेकेलिए कोई उपाय न करनेसे मैले, दुर्बल भी ऐसा था जो शरीरकी नसृ प्रकट देखनेमृ आ रही थी, ऐसा था तो भी ब्राह्मण था, ब्राह्मणकी यह ही शोभा है. ऐसेकी भी देवतारूप लक्ष्मीके आवेशवाली शैब्या(लक्ष्मणा) चंवरसे वायुकी सेवा करने लगी, पहले भगवान्को चंवरसे हवा करती थी, जब भगवान् ब्राह्मणकी पूजा कर रहे थे तब यह चंवर डुला रही थी।।२३।।

आभासार्थ : इस प्रकार ब्राह्मणको दोनृसे पूजित देखकर वहां जो स्थित थे वे अचंभेमृ पड़ गए, यह निम्न श्लोकमृ कहते हैं.

अन्तःपुरजनो दृष्ट्वा कृष्णेनामलकीर्तिना।
विस्मितोभूदतिप्रीत्या अवधूतं सभाजितम् ।।२४।।

श्लोकार्थ : अमल कीर्तिवाले भगवान् कृष्णने उस मलीन ब्राह्मणका अति प्रीतिपूर्वक सत्कार किया, वह देखकर अन्तःपुरके जन विस्मयमृ पड़ गए अर्थात् चकित हो गए।।२४।।

व्याख्यार्थ : कृष्णने इस अवधूतका पूजन किया यह देख चकित हुए, इससे भगवान्का भी निरादर हुआ, इस शंकाको मिटानेकेलिए कहा, कि वे तो सदैव निर्मल कीर्तिवाले हैं, भगवान्ने ऐसी अवस्थामृ भी परमप्रेमसे पूजा की, इससे यह बताया कि दूसरृसे मैल सफा कराके फिर पूजा नहीं की।।२४।।

आभासार्थ : विस्मितृके वाक्य 'किमनेन' श्लोकसे कहते हैं.

किमनेन कृतं पुण्यमवधूतेन भिक्षुणा।
श्रिया हीनेन लोकेऽस्मिन्गर्हितेनाधनेन च ।।२५।।

श्लोकार्थ : इस निर्धन, भिखारी, शोभासे रहित, निन्दित अवधूतने इस लोकमृ कौनसा पुण्य किया है?।।२५।।

व्याख्यार्थ : वे सब, यह इतना शुभ जो इसका हो रहा है, वह पुण्यका ही फल है. किन्तु वह अदृष्ट होनेसे, समझमृ नहीं आता है. 'किम्' पदसे शंका प्रकट की है, कि वह कौनसे पुण्य हैं? यदि कहो, कि थोड़ा कुछ पुण्य होगा, इस पर कहते हैं कि एक तो इसका शरीर अवधूत सा है, यदि इसने थोड़ा भी धर्म किया हो तो प्रथम धर्मके फलरूप उत्तम शरीरकी प्राप्ति होती. पाप कार्य फलरूप मैलसे भरे अंग न होते. यह तो अवधूत है, जो इसने कोई पुण्यधर्म किया हो, तो उसके फलमृ देह प्राप्त हो जानेके बाद इसको उत्तम अन्नकी प्राप्ति होनी चाहिए, वह भी इसके पास नहीं है, अतः भिखारी है और यदि इसने धर्म दानादि किया हो, तो इसकी देहमृ विशेष कान्ति होनी चाहिए, यह तो शोभासे हीन है और इसने लौकिक सम्पत्ति भी गंवा दी है, फिर जो इसने पुण्य कर्म किया है, तो लोकमृ इसकी कीर्ति होनी चाहिए, इसको तो लोक सब निन्द रहे हैं, जैसे यह लोक वैसे परलोक भी समझना चाहिए याृ सूचित किया, यदि इसने धर्म किया हो, तो उसका फल धन, इसके पास होना चाहिए, यह तो निर्धन अर्थात् दरिद्र है, किसी पुस्तकमृ 'अधम' याृ पाठ है तब संस्कार सामग्रीके अभावके कारण याृ कहा है, 'च' पदसे दूसरे भी लक्षण आदि ग्रहण किए हैं।।२५।।

आभासार्थ : तो इसका कौनसा कर्म था जिससे इतना कहा जाता है इस पर 'योसौ' श्लोक कहते हैं.

योसौ त्रिलोकगुरुणा श्रीनिवासेन संभृतः।
पर्यङ्कस्थां श्रियं हित्वा परिष्वक्तोग्रजो यथा।।२६।।

श्लोकार्थ : त्रिलोकीके गुरु, लक्ष्मीके निवास स्थान, भगवान्ने पलंग पर लक्ष्मीको छोड़कर, ज्येष्ठ भाईके समान मिलकर इसका जो आदर किया, सो इसने ऐसा कौनसा पुण्य किया है?।।२६।।

व्याख्यार्थ : भगवान् त्रैलोक्यके गुरु हैं, अतः आप सर्व कार्य, लोकको शिक्षा देनेकेलिए ही करते हैं. लोकमृ यदि अपनेसे निम्न कोटिके इस प्रकारके जीवृसे भी भगवान् मित्रता करते हैं, तो उसको देखकर मनुष्य भी अपनेसे जो निम्न कक्षाके हृ उनसे भी सख्य करना सीखकर मित्रता करृ. फिर भगवान् लक्ष्मी निवास हैं, यदि पुण्यरहित भी लक्ष्मीवान् हो जावे, तो कोई भी दरिद्र न रहे, इससे

समझा जाता है, कि इसके कुछ पुण्य हैं, और धर्मके समय यदि यह आया है तो समझना चाहिए, धर्मकेलिए करता है. किन्तु यह तो कामके समय आया है. उस काम विषयक कार्यको भी छोड़कर भगवान् इससे मिले. तब जाना जाता है, कि इसने कोई महान् धर्म कार्य किया है, अतः यह परमकाष्ठाको प्राप्त होता हुआ (परब्रह्म) भी कामनासे युक्त है, जो इससे साधारण रीतिसे नहीं किन्तु बहुत आदरसे मिले, जिससे समझमृ आता है, कि इसमृ आन्तरभाव भी है, उस भावको निरूपण करनेकेलिये दृष्टान्त देते हैं कि किस प्रकार उससे मिले, बलरामजी कभी अन्य देशसे आते हैं तब भगवान् महान् आदरसे उनसे जैसे मिलते हैं, वैसे ही इससे भी मिले, बलभद्रकी पूजा नहीं करते हैं इसकी तो पूजा भी की, यह फिर उससे विशेषता बताई।।२६।।

आभासार्थ : इसी तरह काया और मनसे संतोष पैदा करना कहकर अब वाणीसे संतोष उत्पन्न करनेकेलिए 'कथयांचक्रतुः' श्लोक कहते हैं.

कथयाञ्चक्रतुर्गाथाः पूर्वा गुरुकुले सतोः।
आत्मनो ललिता राजन्करौ गृह्य परस्परम्।।२७।।

श्लोकार्थ : हे राजन्! भगवान् और सुदामा परस्पर हस्तसे हस्त मिलाकर जब गुरुकुलमृ थे उस समयकी सुंदर कथाएं आपसमृ कहने लगे।।२७।।

व्याख्यार्थ : 'गाथाः'का आशय है कि पहली कथाके बने हुए श्लोक जो कार्य गुरुकुलमृ रहकर किए थे, उसके सम्बन्धवाली कहानियां, उनको कहने लगे, अथवा कथाका कारण याद कर कहने लगे, वे कथाएं अपनेको आनन्द देनेवाली थीं. हे राजन्! यह सावधान होनेकेलिए सम्बोधन दिया है, आपसमृ हाथसे हाथ मिलाकर अपनी समता सिद्ध कर जो श्लोक अथवा श्रुतियां थीं वे परस्पर सन्तोष पैदा करनेके पहले कहने लगे. अब भगवान् कहते हैं, अथवा समुदायका अनुवाद है।।२७।।

आभासार्थ : पहले 'अपि ब्रह्मन्' श्लोकसे १९ श्लोकमृसे भगवान्के वाक्य कहते हैं, उसके पास सम्पत्ति नहीं है, यह भी स्थिर करते हैं, नहीं तो वर्णनार्थ ही वैसे वर्णित होगा, उसमृ पहले वियोगकी अवधिमृ जो कुछ हुआ वह भगवान् पूछते हैं 'अपि'से तीन श्लोकमृमृ.

श्रीभगवान् उवाच

अपि ब्रह्मन् गुरुकुलाद् भवता लब्धदक्षिणात्।

समावृत्तेन धर्मज्ञ भार्योढा सदृशी न वा ।।२८।।

श्लोकार्थ : हे ब्रह्मन्! तुमने गुरुकुलमृसे गुरु दक्षिणा देकर घर लौट आनेके बाद, अपने योग्य स्त्रीसे विवाह किया है कि नहीं? हे धर्मज्ञ! प्रथम यह बात बताओ।।२८।।

व्याख्यार्थ : जब गुरुदक्षिणा दे समावर्त्तन संस्कार कर घर लौटे, तब ही विद्याका पठन पूर्ण हो गया, उसके बाद, तुमने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य धारण किया अथवा विवाह किया? इसकेलिए पूछते हैं, कि हे ब्रह्मन्! इस सम्बोधनसे विद्याकी सिद्धि हुई यह सूचित करते हैं.

'गुरुकुलात्' पदका भावार्थ बताते हैं, कि गुरुकुलमृ स्थिति करनेसे अदृष्टकेलिए भी ब्रह्मचर्य होता है, केवल गुरु पद न देकर गुरुकुल कहा, इसलिए 'कुल' पद कहनेका आशय स्पष्ट करते हैं, कि गुरुजी आश्रममृ नहीं बाहर गए ह्रृ तो, उस समय भी, उनकी(गुरुकी) पत्नी, पुत्र वा गोत्रवाले ब्रह्मचर्य पालन कराते हैं, ''गुरवे तु वरं दत्वा स्नायीत तदनुज्ञया'', अर्थात् गुरुजीको दक्षिणा देकर, उनकी आज्ञासे ब्रह्मचारी स्नान करृ, स्नानका आशय है समावर्तन संस्कार, यह संस्कार गुरुको दक्षिणा देनेके बाद होता है. उसके पश्चात क्या करे? ''चतुर्थ मायुषोभाग–मुषित्वाद्यं गुरौद्विजः द्वितीयमायुषोभागं कृतदारो गृहे वसेत्'' इस वचनानुसार द्विज आयुका पहला चौथा भाग गुरुके पास ब्रह्मचर्य रह विद्याभ्यास करे, उसके बाद समावर्त्तन कर दूसरा चौथा भाग गृहस्थाश्रम पालन करे. अतः हे धर्मज्ञ! धर्मके रहस्यको जाननेवाले, बताइए कि आपने सर्व प्रकार अपने योग्य भार्यासे विवाह किया वा नहीं।।२८।।

आभासार्थ : 'उढा' इस पदका भाव स्वीकार कर कहते हैं, कि राग और उससे विशेष द्वेषवाले इन दोनृका विवाह? इस प्रकार विवाहकी निन्दा प्राप्त होने पर उसके निषेधकेलिए 'प्रायो गृहेषु' श्लोकमृ कहते हैं कि,

प्रायो गृहेषु ते चित्तम् अकामविहितं तथा ।
नैवातिप्रीयते विद्वन् धनेषु विदितं हि मे ।।२९।।

श्लोकार्थ : हे विद्वान्! मैं अनुमानसे समझता हूं कि, घरमृ भी बहुत करके आपका चित्त विषयामृ, लम्पट नहीं होता होगा, धन आदिमृ भी अधिक रुचि न होगी, विद्वानृको ऐसा ही होना चाहिए।।२९।।

व्याख्यार्थ : अधिकतर तुम्हारा चित्त गृह्यमृ कामनाओसे दबा हुआ नहीं

है, अन्यथा परिग्रह कैसे? इसलिए विशेष कहते हैं, कि जैसे लोगॄका चित्त कामनाओॄसे दबा है, वैसे तुम्हारा नहीं है, इस कारणसे ही, तुम्हारा चित्त गृहॄमॄ विशेष प्रीतिवाला नहीं है, क्योॄकि, तुम विद्वान हो इसलिए ही, 'विद्वन्' यह संबोधन दिया है, ज्ञानके उदय हो जानेसे शरीरसे अध्यास(एकका गुण या दोष दूसरेमॄ बता देना) छूट जाता है, अध्यासके कारण, प्रीति कर गृहमॄ तुम्हारी प्रीति नहीं होती है, क्योॄकि ज्ञानी होनेसे तुममॄ अध्यासका अभाव है. ज्ञानके सिवाय धनाभावसे भी पुरुषका गृहमॄ प्रेम नहीं होता है. जैसेकि कहा है ''अन्तरं नैव पश्यामि निर्धनस्य मृतस्य च'' धनहीन और मरे हुएमॄ कोई भेद नहीं है, अर्थात्, दुनियामॄ दरिद्र भी मरेके समान समझा जाता है. 'धनेषु' बहुवचनका आशय है कि धन अनेक प्रकारके होते हैं, जैसेकि गौ, पृथ्वी और सुवर्ण आदि, वे 'गृहा' बहुवचन इसलिए कहा है कि, स्त्रीभेद तथा विलासभेदसे अनेक हैं, इसमॄ प्रमाण देते हैं कि 'विदितंहि मे' मैंने जान लिया है यॄ, यह अर्थ उचित है, जो महान् पुरुष होता है वह इसी प्रकारका ही होता है।।२९।।

आभासार्थ : जो विरक्त है, उसे तो संन्यासका अधिकार है, जैसेकि कहा है, ''यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्'' जिसको जिस दिन संसारसे वैराग्य होवे, वह उसी दिन संन्यासी हो जावे, अतः कैसे विवाह? यदि यॄ कहते हो तो 'केचित्कुर्वन्ति' श्लोकमॄ उत्तर देते हैं.

केचित् कुर्वन्ति कर्माणि कामैरहतचेतसः।
त्यजन्तः प्रकृतीर्दैवीर् यथाहं लोकसंग्रहम् ।।३०।।

श्लोकार्थ : कामनाओॄसे जिनका चित्त हट गया है, वैसे कितने ही पुरुष, दैवी प्रकृतियॄको छोड़कर, लोकसंग्रहकेलिए मेरी तरह अनासक्त हो कर्म करते हैं।।३०।।

व्याख्यार्थः ''**कुर्वन्नेवेहॅ कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः**'' इति ''**इन्धानास्त्वा शतं हिमाः**'' इन श्रुतियॄके अनुसार जबतक जीवित हो, तबतक कर्म करता ही रहे, इस कारणसे ही, जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र करनेकी आज्ञा है. उसमॄ, विरक्त और अविरक्त पुरुषॄके भेदसे, कर्मोंके परित्यागकी व्यवस्था माननेवालॄको, भगवान् अन्य प्रकारसे व्यवस्था बताते हैं.

१.कितने तो जैसे तुमने कहा वैसे ही व्यवस्था करते हैं.

२.कोई निष्काम होते हुए भी कर्म करते हैं.

३.तीसरे कहते हैं, कि 'कषायपक्तिः कर्माणि' वाक्यसे कर्म साक्षात् पुरुषार्थको सिद्ध करनेवाले नहीं है, किन्तु केवल अन्तःकरणकी शुद्धि करते हैं जैसाकि कहा है. ''**यदा सर्व प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदिश्रिताः**'' अर्थात् जो कामनाएं इसके हृदयमृ स्थित हैं वे सब, जब छोड़ी जाती हैं, तब मोक्षरूप पुरुषार्थ सिद्ध होता है, इसलिए कर्मोंका उपयोग कहा है? इस पर कहते हैं, कि ''त्यजन्तः प्रकृती देवीः'' स्वभावको जीतनेकेलिए कर्मोंको करना चाहिए, किन्तु स्वभावको जीतना दुर्लभ है, अतएव भगवान् कहते हैं, कि ''प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रह किं करिष्यति'' भूतमात्र प्रकृतिके अनुसार कर्म करते हैं उसके रोकनेसे क्या होगा? वे स्वभावरूप प्रकृतियां देश, काल, बीज और योनि आदि भेदसे अनेक प्रकारकी हैं, वे यदि पुरुषको छोड़ती हैं तब पुरुष मूलप्रकृतिको भी छोड़कर स्वस्थ होता है. यदि वह नहीं है, तो काम अप्रयोजक है, क्यृकि, कामके अभाव होते हुए भी संसारका निरूपण होनेसे, वे प्रकारसे ही जीतने योग्य हैं? उसमृ कर्मोंका क्या प्रयोजन हैं? इस पर कहते हैं कि वे प्रकृतियां देवतारूप है, उनकी निवृत्ति वैदिककर्मोंके करनेसे ही होती है, इसलिए कर्म करने चाहिए, कषायृ[२]के पाककेलिए ही कर्म विनियोग कहा है यृ सुना जाता है. अथवा स्वर्ग आदिकी प्राप्तिकेलिए कर्म करने चाहिए, न कि स्वभावको जीतनेकेलिए, इस कारणसे केवल युक्तिसे उसकेलिए करना चाहिए यदि यृ कहते हो तो कहते हैं, 'यथाहं लोकसंग्रहम्' जैसे मैं लोक संग्रहकेलिए कर्म करता हूं, उसमृ युक्ति ही मूल है, वह युक्ति है कि 'मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते' मेरे बताए हुए मार्ग पर सत्पुरुष चलते हैं. यह वाक्य कहीं भी नहीं है, कि ईश्वरको कर्म करने चाहिए, इसी कारणसे फलका निर्णय, युक्तिसे भी होता है, यृ अर्थ है।।३०।।

१. इस लोकमृ कर्म करते हुए शतवर्ष जीना चाहे,

२. यो वक्त्रं परिशोषयति, जिह्वां स्तंभयति, कण्ठं बध्नाति, हृदयं कषति पीडयति.

आभासार्थ : इस प्रकार विषयको जानते हुए भी, प्रश्नके मिषसे विरक्त भावसे, गृहाश्रममृ रहता है, यृ उसका कृत्यकर्म कहकर, यृ करनेका प्रयोजन कहते हैं, दोषृको सुनकर स्वभावसे वा केवल वासनासे गृहस्थ किया है, कारणकि, ''नानुभूयन जानाति जनो विषयतीक्ष्णताम्'' मनुष्य अनुभव किये बिना विषयृकी तीक्ष्णताको पहचान नहीं सकता है, इसलिए मनको विषयृमृ तीक्ष्णता है ऐसा विश्वास दिलानेकेलिए ही विवाह किया है, जिससे फिर इच्छा कामना

निवृत्त हो जाती है, इच्छा तो निवृत्त हो गई, किन्तु भार्या गलेमॅ पड़ गई ऐसे हास्य करते हुए, जो किया उसका अभिनन्दन कर, उसके साथ मित्रताका स्मरण करानेकेलिए निम्न श्लोक कहने लगे.

कच्चिद् गुरुकुले वासं ब्रह्मन् स्मरसि नौ यतः ।
द्विजो विज्ञाय विज्ञेयं तमसः पारमश्नुते ।। ३१।।
स वै सत्कर्मणां साक्षाद् द्विजातेरिह सम्भवः ।
आद्योऽयं यत्राश्रमिणां यथाहं ज्ञानदो गुरुः ।।३२।।

श्लोकार्थ : हे ब्रह्मन्! हम दोनॅ गुरुकुलमॅ साथ रहते थे, यह तुमको याद है? द्विज गुरुकुलमॅ निवासकर जो जाननेके योग्य वस्तु है, उसको जानकर, अज्ञानको पार कर जाता है।।३१।।

मनुष्यके इस जगतमॅ तीन गुरु हैं–एक गुरु जन्म देनेवाला पिता है, उपनयन संस्कार कराके जिस विद्यासे सत्कर्म हो सके उस विद्याको पढ़ानेवाला दूसरा गुरु है, तीसरा गुरु वह है जो ब्रह्मविद्याका दान देता है, जिस तरह मैं सबको ज्ञान देनेवाला गुरु हूं, गुरुकी भक्तिका पर्यवसान(अंत) अनुभवमॅ होनेसे स्वतुल्यता (अपने बराबर) है. अतः सर्व पूज्य हूं।।३२।।

व्याख्यार्थ : प्रथम गुरुकुलमॅ निवासकी बडाईका निरूपण करते हैं, वहां रहकर सफलता प्राप्त होनेसे महानता प्राप्त होती है, जिससे उसका सदैव स्मरण रहता है. हे ब्रह्मन्! यह संबोधन देकर बताते हैं, कि ऐसी योग्यता तुम्हॅ गुरुकुलके निवासके प्रसादसे हुई है. हम दोनॅ गुरुकुलमॅ निवास करते थे वह याद है? यॅ कहनेसे यह बताया है कि, बाहर और भीतरके भेदसे जो कुछ भी गुरुकुलमॅ अनुभव प्राप्त किया, उसके स्मरण करनेसे कृतार्थता होती है. गुरुकुलकी बड़ाई कहते हैं, वहां रहकर द्विज जानने योग्य आत्माको और प्रमाणको जानकर तम (अज्ञान)से परे जो सद्वस्तु(भगवान्) हैं उसका आनन्द लेता है, जैसाकि भगवती श्रुति कहती है ''आदित्य वर्ण तमसः परस्तात्'' तमसे परे आदित्य वर्णवालेको और विशेष गुरुकुलमॅ निवास, द्विजातियॅका दूसरा जन्म है, वह जन्म साक्षात् कर्मोंका सम्बन्धी है. जहां जन्म श्रेष्ठ हो जाता है, वहांसे कर्म उत्पन्न होते हैं, अर्थात् वैदिककर्म करनेका अधिकार प्राप्त होता है. श्रुति कहती है, ब्राह्मण जन्मते ही तीन प्रकार ऋणी होता है, किञ्च आश्रमियॅमॅ आद्य आश्रमी गुरुकुलमॅ रहकर ब्रह्मचारी होता है, आश्रम ही पुरुषार्थोंके साधक हैं, उनमॅसे पहला यह है,

यदि यह सिद्ध न हुआ, तो दूसरा कोई भी गृहस्थादि आश्रम सिद्ध न होगा. साधन और साधकपनसे गुरुका उपयोग कहकर, साक्षात्, ज्ञान साधकपनसे पुरुषार्थके उपयोगीपन कहते हैं कि 'यथा हं ज्ञानदो गुरुः' जिस तरह मैं ज्ञान देनेवाला गुरु हूं. भक्ति अनुभवकी पराकाष्ठा होनेसे गुरुकी अपनेसे समानता कही है।।३२।।

आभासार्थ : दोनूका कारणपन कैसे होगा ? इस शंकाके उत्तरमू 'नन्वर्थ' श्लोक कहते हैं.

नन्वर्थकोविदा ब्रह्मन् वर्णाश्रमवतामिह।
ये मया गुरुणा वाचा तरन्त्यञ्जो भवार्णवम् ।।३३।।

श्लोकार्थ : हे ब्रह्मन्! इस मनुष्य जन्ममू वर्णाश्रम पालन करनेवाले पुरुषामूसे वही उत्तम है अर्थात् तत्त्वको जाननेवाले हैं, जो मेरे ही रूप गुरुकी वाणीसे इस संसाररूप सागरको शीघ्र तर जाते हैं।।३३।।

व्याख्यार्थ : पुरुषार्थकी सिद्धि शीघ्र होवे, ऐसा जो विचारते हैं, वे ही पुरुषार्थ सिद्ध करनेमू पण्डित हैं. जो मेरे ही रूप गुरुकी वाणीसे अर्थात् उपदेशसे, बिना श्रमके हम शीघ्र पार पहुचूगे, याू निश्चयकर गुरुकी ही सेवा करते हैं, वे ही पुरुषार्थ सिद्ध करनेमू पण्डित हैं, हे ब्रह्मन्! यह संबोधन संमतिकेलिए है, दूसरा कोई साधन नहीं है यह बतानेकेलिए कहा है, कि वर्णधर्म और आश्रमधर्म पुरुषार्थके साधक नहीं हैं।।३३।।

आभासार्थ : इस प्रकार जो कोई बिना गुरु सेवाके संसार तरणके उपाय समझे जाते हैं, वे उपाय वास्तविक नहीं है, अतः उनके निषेध करनेकेलिए कहते हैं, कि गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ अथवा संन्यास ये जो मुख्य धर्म माने जाते हैं वे मेरे प्रीतिके हेतु नहीं है, यह निम्न श्लोकमू स्पष्ट कहते हैं.

नाहमिज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा।
तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा ।।३४।।

श्लोकार्थ : सर्वभूताूकी आत्मा, मैं, जैसा गुरु सेवासे प्रसन्न होता हूं, वैसा यज्ञ, संतति उत्पन्न करने, तपसे संन्यासी हो जानेसे संतुष्ट नहीं होता हूं।।३४।।

व्याख्यार्थ : 'इज्या' यज्ञ 'प्रजातिः' सन्तान, ये दोनू ऋण उतारनेकेलिए हैं. गार्हस्थ्य धर्मके अंग हैं, वानप्रस्थ तपरूप है, इन्द्रियाूका दमन संन्यासधर्म है. इन तीनूसे मैं प्रसन्न नहीं होता हूं, कारणकि सर्वभूताूमू मेरी आत्मा है. यज्ञसे

जीवृका नाश होता है. सन्तानकी उत्पत्ति, इससे भी मुझे हर्ष नहीं हैं, क्यृकि उत्पत्ति और प्रलय करते हुए मुझे सन्तोष पैदा नहीं करते हैं. उसमृ कारण यह है, कि उत्पादनसे जीवको क्लेश होता है, तपस्यासे शरीरको क्लेश होता है, दमनसे देह इन्द्रियादिकृ क्लेश होता है अतः मुझे उससे भी संतोष नहीं है. गुरुकी सेवा तो प्रेमसे होती है, जिससे सेवक और गुरु दोनृको आनन्द प्राप्त होता है, अतः मैं उससे प्रसन्न होता हूं. वेदृका अध्ययन, ऋषिऋण उतारनेकेलिए है इसलिए सेवा अधिक ही है, यद्यपि उनका भी सेवाके अंगरूपसे ही विनियोग है, तो भी प्रेमसे किया हुआ ही संयोग पृथक्त्व न्यायसे मेरी प्रीतिका भी हेतु होता है।।३४।।

आभासार्थ : इसी तरह गुरुकुल निवासकी स्तुति कर, उसकी याद दिलाके वहां अपना निवास सेवार्थ परम क्लेशवाला हुआ था, यृ विशेष सेवाका स्मरण निम्न श्लोकसे कराते हैं.

अपि नः स्मर्यते ब्रह्मन् वृत्तं निवसतां गुरौ।
गुरुदारैः प्रेरितानामिन्धनानयने क्वचित्।।३५।।

श्लोकार्थ : हे ब्रह्मन्! हम लोग जब गुरुके पास रहते थे, तब गुरुकी स्त्रीने हमको लकड़ी लानेकेलिए वनमृ भेजा था, वहां जो कुछ हुआ क्या वह आपको याद है?।।३५।।

व्याख्यार्थ : यह त्रिगुणका कार्य है, यृ जो, मैं कहनेवाला हूं वह अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाला कार्य है. क्या उसका स्मरण है? 'अपि' शब्द संभावनाके अर्थमृ दिया है, हे ब्रह्मन्! यह पद असूयाके अभावमृ कहा है, अर्थात् आपमृ ईर्ष्या नहीं है, गुरुके पास रहनेवाले ब्रह्मचर्यव्रत करनेवालृको गुरुकी आज्ञा समान, गुरुपत्नी और गुरुपुत्रकी आज्ञा माननी चाहिए, अतएव गुरुपत्नीने आज्ञा दी, कि वनसे लकड़ियां ले आओ, 'क्वचित्' पदका तात्पर्य है कि कदाचित् वह समय विषम(भीषण) था।।३५।।

प्रविष्टानां महारण्यमपर्तौ सुमहद्द्विज।
वातवर्षमभूत्तीव्रं निष्ठुराः स्तनयित्नवः।।३६।।

श्लोकार्थ : हे द्विज! लकड़ी लेनेकेलिए हम वनमृ घुसे, उस समय वर्षाऋतु भी नहीं थी, किन्तु तीव्र वायुके साथ वर्षा होने लगी और बड़ी गर्जना होने लगी।।३६।।

व्याख्यार्थ : पश्चात् तोड़कर लकड़ी लानेकेलिए गहन बनमृ हम घुसे,

वहां उस समय, शिशिर ऋतु थी, तो भी जबर्दस्त वायुके साथ भारी वर्षा होने लगी और निठुर बादल गर्जने लगे, निठुरका भावार्थ है कि उनकी ध्वनि कर्णोको असह्य थी, हे द्विज! यह संबोधन, यह जन्मभूमि है इसका ज्ञान करानेकेलिए दिया है।।३६।।

सूर्यश्चास्तंगतस्तावत्तमसा चावृता दिशः।
निम्नं कूलं जलमयं न प्राज्ञायत किंचन ।।३७।।

श्लोकार्थ : इतनेमृ सूर्य अस्त हो गया, दिशा अन्धकारसे पूर्ण हो गई, नदीके किनारे तक जल भर गया, कुछ भी जान नहीं सकते थे कि नदी है या पृथ्वी है।।३७।।

व्याख्यार्थ : इतनेमृ ही सूर्य अस्त हो गया, दिशाओंमृ अन्धेरा छा गया तो भी आये क्यूं नहीं? जिसका उत्तर है कि नदीका किनारा जलमय हो गया, अर्थात् भूमि और नदी सब एक हो गई, जल ही जल चारूं तरफ सर्वत्र दीख पड़ता, भूमि कहां है नदी कहां है जान नहीं पड़ता था, क्षिप्राको पार करनेका कोई उपाय न रहा।।३७।।

आभासार्थ : इस कारण रात्रिको नदीके दूसरे पार ही रहे, इस प्रकार हुई क्लेशकी स्थितिकी याद 'वयं भृशं' श्लोकमृ दिलाते हैं.

वयं भृशं तत्र महानिलाम्बुभिर्निहन्यमाना महुरम्बुसंप्लवे।
दिशोऽविदन्तोऽथ परस्परं वने गृहीतहस्ताः परिबभ्रिमातुराः ।।३८।।

श्लोकार्थ : वहां तेज पवन और वर्षासे हम तीनूं पीड़ित हुए थे, दिशाओंका पता न पड़ता था, बैठनेका कोई स्थान नहीं रहा, तब आतुर हो, भूल न जाए, इसलिए परस्पर हाथ पकड़ फिर रहे थे।।३८।।

व्याख्यार्थ : हम तीनूं(हम दोनूं और बलरामजी) ही उसी जंगलके प्रदेशमृ तेज वायु और वर्षासे पीड़ित हो रहे थे, बैठनेकेलिये कोई भूमि नहीं थी, सर्वत्र जल ही जल पड़ा था, दिशाओंको भी पहचान नहीं सकते थे ऐसी अवस्थामृ क्या करना चाहिए यह विचार कर, निश्चय किया कि कहीं भी जानेका यत्न नहीं करना चाहिए, किन्तु कैसे ही समय बिताना चाहिए, आपसमृ साथ ही रहे अलग-अलग न हो जावृ इसलिए एकदूसरेके हाथ पकड़ लिए बादमृ उसी ही वनमृ, दीन और भूखे होते हुए भी, यहां वहां चक्कर ही काटने लगे अर्थात् फिरने लगे।।३८।।

आभासार्थ : तुम्हारी वहां ऐसी दशा हुई इससे जाना जाता है, कि 'गुरु' निर्दयी था, तो ऐसे गुरुके वहां वास कैसे किया? इस शंकाका निवारण निम्न श्लोकमृ करते हैं.

एतद् विदित्वाऽनुदिते रवौ सांदीपनिर्गुरुः ।
अन्वेषमाणो नः शिष्यानाचार्योऽपश्यदातुरान् ।।३९।।

श्लोकार्थ : जब गुरुको इस बातका पता लगा, तब सूर्योदयसे पहले ही, हम शिष्याृको ढूंढ़नेकेलिए निकले, ढूंढ़ते- ढूढ़ते हमृ काम्पते हुए देखा।।३९।।

व्याख्यार्थ : गुरुके हृदयमृ यह अपना क्लेश प्रकट हुआ ही, जिससे सूर्यके उदयसे पूर्व ही सांदीपनि गुरु गृहसे निकले, हमको ढूंढते-ढूंढते आकर काम्पता हुआ देखा।।३९।।

आभासार्थ : हमको इस दशामृ देख गुरुको दया आई, यह निम्न श्लोकमृ कहते हैं.

अहो हे पुत्रका यूयम् अस्मदर्थेऽतिदुःखिताः ।
आत्मा वै प्राणिनां प्रेष्ठस्तमनादृत्य मत्पराः ।।४०।।

श्लोकार्थ : अहो! हे पुत्राृ! मेरेलिए तुमने बहुत दुःख पाया है देहधारियाृको सबसे प्रिय निश्चयसे आत्मा है, उसका भी अनादर कर मेरी सेवामृ लगे रहे।।४०।।

व्याख्यार्थ : इसलिए ही, भगवान्ने ही याृ किया है, क्याृकि विद्या 'वैधन्याय'से गुरुमृ स्थित रहती है. वह अतिशय मथन करनेसे प्रकट होकर शिष्यमृ आती है. वहां मथन स्थानीया यह परम दया है, अर्थात् हमने जो इतना दुःख गुरुके कार्यकेलिए सहन किया है, उसने गुरुके हृदयका मथन किया है, जिससे गुरुको हमारेलिए दया उत्पन्न हुई है. हे पुत्रकाः! यह संबोधन, दयासे उत्पन्न स्नेहके कारण दिया है, 'पुत्रकाः' यह पद पुत्रसे समानता प्रकट करता है. इससे गुरुने आश्वासनकेलिए याृ कहा, कि यह आश्रम आपका ही गृह है, अतः तुमने लकड़ी लेते हुए जो दुःख भोगा है, वह अपने स्वार्थके कारण भोगा है, इसलिए उसकी चिन्ता नहीं करनी, गृहकार्य करते हुए दुःख भोगना ही पड़ता है. फिर गुरुजी उनका दुःख कम हो इसलिए फिर कहते हैं, कि तुम हमारे लिए बहुत दुःखी हुए हो, हम तो अपना व्रत पालते हैं, इसमृ दुःख कैसे? यदि याृ कहो तो उसके उत्तरमृ कहा कि, प्राणियाृको आत्मा ही सबसे प्रिय है, ''द्रव्यसंस्कार

विरोधे द्रव्यं बलीयः'' ''जहां द्रव्य और संस्कारका विरोध आवे, वहां द्रव्य बलवान है'' शरीर और व्रत इनमॄ शरीर द्रव्य है और व्रत संस्कार है अब यहां व्रत पालनेसे शरीरको कष्ट होता है, व्रत संस्कार होनेसे, त्याग कर शरीरकी रक्षा करनी चाहिए. उसमॄ भी शरीर स्नेहपात्र है, व्रत विधि है, विधि और स्नेहमॄ भी स्नेह बलिष्ठ है, तुमने वैदिक-लौकिकन्यायका भी उल्लंघन कर मेरी सेवा ही की है, देह सबसे प्रिय होते हुए भी उसका अनादर कर मेरी सेवामॄ लगे रहे, देहकी परवाह नहीं की।।४०।।

आभासार्थ : हमने वैदिकलौकिकन्यायका उल्लंघनकर विरुद्ध आचरण किया तो फिर आप कैसे प्रसन्न हुए? इसका उत्तर 'इयदेव' श्लोकमॄ देते हैं.

इयदेव हि सच्छिष्यैः कर्तव्यं गुरुनिष्कृतम्।
यद्वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मसमर्पणम्।।४१।।

श्लोकार्थ : जिस देहसे, सर्व पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं वह प्रिय देह और अर्थ, शुद्ध भावसे गुरुको अर्पण कर गुरुके प्रति उपकार करना, यह ही सत् शिष्यॄका कर्तव्य है।।४१।।

व्याख्यार्थ : सत् शिष्य अर्थात् अलौकिक शिष्यॄको इतना ही करना चाहिए कि विशुद्धभावसे समस्त पुरुषार्थ और आत्माको निश्चयपूर्वक गुरुचरणॄमॄ समर्पण करना यह ही गुरुके प्रति उपकार है।।४१।।

तुष्टोहं हे द्विजश्रेष्ठाः सत्याः सन्तु मनोरथाः।
छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च।।४२।।

श्लोकार्थ : हे द्विजश्रेष्ठॄ! मैं तुम पर प्रसन्न हुआ हूं इसलोक तथा परलोकमॄ तुम्हारे मनोरथ सफल होवॄ और जो वेद पढ़े हैं वे भी निष्फल कभी भी न होवॄ।।४२।।

व्याख्यार्थ : तुमने यह जो सेवा की है, वह जितना बन सका उतनी सेवा की, किसी भी बहाने वा कपटसे नहीं की है, इसलिए मैं तुम पर प्रसन्न हुआ हुं, हे द्विजश्रेष्ठ! संबोधन देकर अपनी प्रसन्नताका फल कहते हैं, इस व्रतके पूर्ण करनेसे तुम्हारा सर्व प्रकार श्रेष्ठ उत्कर्ष सिद्ध होगा, जिसकेलिये व्रत पालन किया, उसका दान देते हैं कि तुम्हारे मनोरथ पूर्ण हॄ तथा जो विद्याएं पढ़ी हैं, वे कभी भी निष्फल न होवॄ, जिन अवसरॄमॄ वेद आदि पढ़नेसे वेदविद्या निष्फल हो जाती है.(उसका स्पष्टीकरण आचार्यश्रीने निम्न कारिकाओॄमॄ किया है.)

'आम्नायात्तु विनिर्मुक्ता अनध्याये तथा स्मृता: ।
अयाज्ये योजिताश्चैव निषिद्धाय च पाठिता: ।
फलार्थं योजिता दृष्टा यातयामा भवन्ति हि ।
अन्यथा ज्ञातरूपाश्च अन्यथार्थप्रबोधिता: ।
अब्रतै: शूद्रसंकाशै: पातित्याद्याकुले स्थले ।
अधीता: सर्वथैवैते यातयामा भवन्ति हि' ।

कारिकार्थ: जिन्हृाने गुरु परम्परागत उपदेश छोड़ दिया है, अनध्यायके दिनृामृ पढ़ा है, यज्ञ करानेके योग्य नहीं उनको यज्ञ कराया है, जिन शूद्रादिको न पढ़ाना चाहिए उनको पढ़ाया है, फल[१]केलिए ही वेदृाको देखा है, वेदृाका जो ज्ञानरूप है उसको अन्यथा समझा है, अर्थ भी असत्यसे समझाये हैं, नियम रहित शूद्रके समीप, जहां पतित आदि रहते हैं वैसे स्थलमृ पढ़ा है, उनका वेद पढ़ना निष्फल हो जाता है।।१-२-३।।

व्याख्यार्थ : मैं वर देता हूं कि तुम यदि ऐसे अवसरृा पर पढ़ोगे तो भी तुम्हारी विद्या निष्फल न होगी, इस लोकमृ चाहे परलोकमृ भी यह वेद विद्या स्मरण ही रहेगी. याृ तो पढ़ी हुई विद्याएं इस लोकमृ फलदायिनी होती हैं, किन्तु तुम्हारी विद्याएं दोनृा लोकृामृ फलीभूत होगी. 'च' पदसे यह बताया है कि यह विद्या सर्वकर्मोंमृ भी सफल होगी।।४२।।

१. पैसा कमानेकेलिए वेद पाठ किया है.

आभासार्थ : यह एक फलका साधनरूप चरित्र कहकर अब कहते हैं कि यह एक ही ऐसा चरित्र नहीं है, किन्तु वैसे अनेक चरित्र हैं यह निम्न श्लोकमृ बताते हैं.

इत्थं विधान्यनेकानि वसतां गुरुवेश्मसु ।
गुरोरनुग्रहेणैव पुमान् पूर्ण: प्रशान्तये ।।४३।।

श्लोकार्थ : गुरुके गृहमृ रहते हुए वैसी अनेक सेवाएं की थी वे तुम्हृा याद तो होगी ? शिष्य गुरुकी कृपासे ही पूर्ण होता है और शांति प्राप्त करता है।।४३।।

व्याख्यार्थ : गुरुके गृह्यामृ रहते हुए क्या होता है वह बताते हैं. गुरुके यहां जो निवास किया जाता है, वह नित्य है क्यृाकि गुरुजीके अनुग्रहसे शिष्य, वहां वास करनेसे केवल पूर्णता प्राप्त नहीं करता है, किन्तु सर्व प्रकार शान्ति भी प्राप्त करता है, स्वाभाविक जो कामादिक उनसे उत्पन्न इच्छाएं अन्य प्रकार शान्त नहीं

होती हैं किन्तु गुरुजीके अनुग्रहसे ही शान्त होती हैं अथवा भगवान्‌के स्मरणसे शान्त होती हैं, या दोनासे पूर्ण शान्तिकेलिये समर्थ होता है, इस प्रकार उपाख्यान कहकर यह प्रश्न किया कि तुमने सर्व पुरुषार्थ सिद्ध किये वा नहीं?।।४३।।

आभासार्थ : ब्राह्मण, भगवान्‌के प्रश्नका 'किमस्माभिर्न' श्लोकसे उत्तर देता है.

ब्राह्मण उवाच

किमस्माभिर्न निर्वृत्तं देवदेव जगद्‌गुरो।
भवता सत्यकामेन येषां वासोऽभवद्‌गुरौ।।४४।।

श्लोकार्थ : ब्राह्मणने कहा, हे देवदेव! हे जगतके गुरु! सत्यकामवाला आपके साथ, जिसका गुरुकुलमा वास हुआ हो उसको शेष क्या करना रहेगा?।।४४।।

व्याख्यार्थ : हम लोगाने कौनसा पुरुषार्थ है, जो सिद्ध न किया हो, किन्तु उनसे भी विशेष सिद्ध किया है, जैसाकि आपके साथ जिसका गुरुके पास निवास हुआ, यही विशेषता है, गुरुगृहमा रहनेके अनन्तर वे प्रसन्न हुए, तो उनके प्रसन्न होने पर कौनसा पुरुषार्थ है, जो सिद्ध नहीं होता है, अर्थात् जो पुरुषार्थ चाहे वह सिद्ध होता है, हमने तो गुरुकुलमा सर्व पुरुषार्थरूप आपसे मिलाप कर लिया, अतः गुरुकुलमा निवास हम लोगाका ही सफल हुआ, नहीं कि दूसराका, उन-उन मन्त्राके देवताआकी तृप्ति भी प्रयोजक नहीं है जो उनकी खोज करे, क्याकि आप ही देवाके देव हैं इसलिए हमको अन्य किसीकी भी आवश्यकता नहीं है. गुरुके प्रसादको भी हम नहीं ढूंढते हैं, कारणकि आप ही जगद्‌गुरु हैं और विशेष आप सत्यकाम हैं, वे आप हमारे संगमा वहां रहे. अध्ययनमा लगे हुए हम लोगाका लोकन्यायसे सर्व पुरुषार्थ सिद्ध होवे, या आपसे काम प्राप्त हो वह काम सत्य ही होता है. इसलिए भगवदिच्छासे ही हम लोगाके सर्व पुरुषार्थ सिद्ध ही हैं, अतः आपके साथ गुरुकुलमा निवास ही पुरुषार्थ और उसका साधन भी है।।४४।।

आभासार्थ : आपने जो कहा कि, हमारा और अन्य सर्वका गुरुगृहमा निवास तुम्हा स्मरण है? जिसके उत्तरमा ब्राह्मण सुदामा कहता है कि आप स्वामीका वहां निवास तो अनुकरणकेलिए ही था, यह 'यस्य छन्दोमयं' श्लोकमा कहता है.

यस्य छन्दोमयं ब्रह्म देह आवपनं विभोः।

श्रेयसां तस्य गुरुषु वासोऽत्यन्तविडम्बनम् ।।४५।।

श्लोकार्थ : जिनका वेदरूप देह है, जिस देहसे सर्व प्रकारके श्रेय होते हैं, ऐसे स्वरूपवाले आपका, गुरुगृहमॄ निवास, केवल अनुचित, अनुकरण मात्र है।।४५।।

व्याख्यार्थ : जिसको वेदात्मक अर्थात् शब्दात्मक ब्रह्म कहते हैं वह आपका शरीर है, जिस वेदके अध्ययनकेलिए गुरुगृहमॄ रहनेकी आवश्यकता होती हैं, मेरी देह वैसी कैसे? इस शरीरमॄ तो कोई जीव विशेष ही अधिष्ठित है, इसके उत्तरमॄ कहता है कि 'विभोः' आप सर्व व्यापक सर्व समर्थ हैं, अतः आप ही उसका शासन करनेकेलिए समर्थ हैं. देश काल पुरुष आदि अनन्तामॄ अधिष्ठितको फलदान करना, व्यापक अधिष्ठानके सिवाय नहीं हो सकता है, उसको ही फलका साधकत्व कहता है, 'श्रेयसां आवपनं' इस शरीरमॄ ही श्रेय सर्वत्र बोए हुए हैं, ऐसे शरीरवाले आपका गुरुकुलमॄ निवास अनुचित अनुकरण है।।४५।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम–स्कंधके ७७वॄ अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण द्वारा विरचित श्रीसुबोधिनी(संस्कृत–टीका)के सात्त्विक फल
अवान्तर प्रकरणके तृतीय अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ७८

सुदामाजीको ऐश्वर्यकी प्राप्ति

द्वात्रिंशे भगवानस्य पुरुषार्थतयोदितः।
स्वकर्तव्यं विदित्वैव कृतवानित्युदीर्यते।।का.१।।

कारिकार्थ : श्रीमद्भागवतके उत्तरार्धके ३२वृ अध्यायमृ सुदामाने भगवान्को पुरुषार्थपनसे जाना है, अतः भगवान्ने भी अपना कर्तव्य जानकर ही इसको सम्पत्ति दी।।१।।

मर्यादया प्रेरिता तु लक्ष्मीः स्थैर्यमिहाश्नुते।
अतोत्र भगवांस्तस्य पृथुकानप्यभक्षयत्।।का.२।।

कारिकार्थ: मर्यादापूर्वक जो लक्ष्मी प्रेरित होकर प्राप्त होती है, वह स्थिर रहती है, उससे भोगकी सिद्धि होती है, इसलिए ही भगवान् स्वयं तण्डुलाृको आरोगते हैं।।२।।

दानेपि तेजोहानिः स्यात् भार्यदत्तमुपायनम्।
तस्या एवं फलं भूयादिति जग्धुं समुद्यतः।।का.३।।

कारिकार्थ: स्त्रीने जो भृट दी थी, वह भृट यदि सुदामा देवे तो उसके तेजकी हानि हो जावे, अतः भगवान्ने स्वयं स्त्रीकी दी हुई भृट ले ली और इसका फल भी स्त्रीको ही मिलना चाहिए, याृ विचारकर वे तण्डुल स्वयं आरोगने लगे।।३।।

मुष्टिरेको जगत्तृप्त्यै वनवासे निरूपितः।
सर्वं फलं सर्वतृप्त्या परलोके तथापरः।।का.४।।

कारिकार्थ: भगवान् एक मुष्टि आरोगृ, तो सर्व जगतकी तृप्ति हो जाती है. यह आपने वनवासमृ पाण्डवाृके यहां दुर्वासाके साथ आए हुए समग्र ऋषियाृको एक पत्र खाकर तृप्त कर सिद्ध कर दिखाया है. दूसरी आरोगृ, तो परलोकके फलकी सिद्धि हो जावे।।४।।

तृतीये देवतां दद्यादात्मानं च ततः परे।
एवं बुद्ध्या तया दत्तास्ते चेन्निर्विविशुर्हरिम्।।का.५।।
चतुर्थांश सिद्धिमेतु तस्या नाधिकमित्युत।
लक्ष्मणायां प्रविष्टा श्रीः प्रतिबन्धं चकार ह।।का.६।।

कारिकार्थ: तीसरी आरोगृ, तो देवता उसके आधीन हो जाय, इससे

विशेष आरोगॄ, तो हमको भी दे देवॄ. इस प्रकार प्रेमपूर्वक बुद्धिसे दिए हुए सर्व तण्डुल यदि भगवान्के हृदयमॄ जावॄ तो पूर्ण फलकी प्राप्ति हो सकती है, किन्तु भगवान्के उदरमॄ चतुर्थांश ही गया, जिससे इतनी ही सिद्धि स्त्रीको प्राप्त हुई, अधिक नहीं कारणकि लक्ष्मणामॄ प्रविष्टा लक्ष्मीने रोक दिया।।५-६।।

कारिकार्थ समाप्त

आभासार्थ : पूर्व अध्यायके अन्तमॄ सुदामाके मनकी प्रसन्नताका वर्णन कर उसकी इच्छाकी पूर्ति की. अब इस अध्यायमॄ उसकी पत्नीकी इच्छा पूर्ण करनेकेलिए पूर्व कथाका उपसंहार करते हुए श्रीशुकदेवजी कहते हैं :

श्रीशुक उवाच

स इत्थं द्विजमुख्येन सह संकथयन् हरिः।
सर्वभूतमनोऽभिज्ञः स्मयमान उवाच ह ।।१।।

श्लोकार्थ : द्विजश्रेष्ठ सुदामाके साथ इस प्रकार वार्तालाप करते हुए सबके मनके भावॄको जाननेवाले वे हरि कुछ मुस्कराते हुए कहने लगे।।१।।

व्याख्यार्थ : भगवान् होके जीवसे कैसे इस प्रकार वार्तालाप करने लगे? इस शंकाको मिटानेकेलिए ही कहा है, कि वह सुदामा साधारण ब्राह्मण नहीं था किन्तु ब्राह्मणॄमॄ मुख्य ज्ञानी ब्राह्मण था, जिससे ब्रह्मभावसे वह जीव होते हुए भी आवेशी हो गया था, अर्थात्, उसमॄ ब्रह्म आवेशरूपसे प्रविष्ट था अतः उससे वार्तालाप करनेमॄ कोई दोष नहीं है, और विशेषमॄ वे हरि हैं जिससे सर्व पुरुषार्थरूप भगवान् ही हैं, जिससे दोष नहीं है. अनन्तर, सर्वभूतॄके मनके भावॄको पूर्णतया जाननेवाले होनेसे, सुदामाकी भार्याके हृदयकी इच्छाको भी जानते थे, इसी कारण, साधारण रीतिसे, मुस्कराते हुए निरूपण करते हैं. भार्याके सम्बन्धसे उसके साथ परिहास करनेकी इच्छावाले थे, 'ह' यह पद आश्चर्य अर्थमॄ दिया है, भगवान् पूर्ण हैं अतः बिना दिए स्वयं लेते नहीं, इस बातको ब्राह्मण श्रेष्ठ होनेसे सुदामा जानते थे, तो भी इतने थोड़े चांवल, भॄट रूपमॄ कैसे दूं याॄ लज्जा आनेसे दिए नहीं।।१।।

ब्रह्मण्यो ब्राह्मणं कृष्णो भगवान् प्रहसन् प्रियम्।
प्रेम्णा निरीक्षणेनैव प्रेक्षन् खलु सतां गतिः ।।२।।

श्लोकार्थ : ब्राह्मणॄके हितकारी भगवान् कृष्ण हंसी करते हुए, प्रेम भरी दृष्टिसे देखते हुए, सत्पुरुषॄके रक्षक प्रिय मित्र ब्राह्मणको कहने लगे।।२।।

व्याख्यार्थ : तो भी, भगवान् तो ब्रह्मण्य हैं अर्थात् ब्राह्मणृके हितकारी हैं, वह(सुदामा) ब्राह्मण है, अतः उसका हित तो करना ही है आप(श्रीकृष्ण प्रकट ही इसकेलिए(ब्राह्मणादिके हित करनेकेलिए) हुए हैं नहीं तो भगवान् भूमि पर कैसे पधारॄ? अथवा पलंगसे उठकर उसको लेनेकेलिए कैसे आवॄ? और सादर प्रेमाश्रु बहाते हुए उसको साथमॄ लेकर अपने पलंग पर बिठाकर पूजनादि क्याॄ करे? इसके बाद भगवान् मुस्कराते हुए सुदामाको प्रिय वचन कहने लगे. मुस्कराहटसे कहनेका भावार्थ है कि प्रभुको सुदामाकेलिए जो करना था वह गुप्त करना था।।२।।

आभासार्थ : भगवान्के वाक्य 'किमुपायनं' डेढ़ श्लोकसे कहते हैं :

श्रीभगवानुवाच

किमुपायनमानीतं ब्रह्मन् मे भवता गृहात्।
अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत्।।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते।।३।।

श्लोकार्थ : भगवान् कहने लगे कि हे ब्रह्मन्! आप मेरे लिए घरसे क्या भॄट लाए हो? भक्त लोग प्रेमसे किञ्चित् मात्रा भी अर्पण करे, तो उसे मैं बहुत अधिक कर मानता हूँ और अभक्त पुरुष बहुत अर्पण करे, तो भी मैं उससे प्रसन्न नहीं होता हूं।।३।।

व्याख्यार्थ : 'ब्रह्मन्' संबोधन देनेका भाव यह है, कि आपको धर्मका ज्ञान है जिससे मेरे लिए भॄट जरूर लाए ह्याॄगे किन्तु वह भी घरसे लाए ह्याॄगे, न कि आते हुए, मध्यमॄ कहींसे लाए हो, वह तो मुझे आनन्द देनेवाली नहीं होगी. यदि तुम कहो, कि आप पूर्ण हैं, पूर्णकेलिए भॄट लानेकी क्या आवश्यकता है? जो कहो, कि हमारे लिए जो हम लोगाॄको दी गई, वह भॄट(आपकेलिए) लानी व्यर्थ है. इस पर भगवान् कहते हैं, कि किञ्चन्मात्र भी भक्तसे अर्पण हुआ पदार्थ मुझे प्रसन्न करनेवाला होता है और अभक्त कितना भी अधिक ले आवे, तो वह मुझे आनन्द नहीं देता है. यह जो द्वारकामॄ स्थित है, वह सर्व ऐश्वर्यके वश हो, अभक्त इन्द्र आदि देवाॄसे लाए गए हैं न कि प्रेमसे, अतः उससे मुझे प्रसन्नता नहीं है. इस समस्त द्वारकामॄ, ये तण्डुल ही भक्तके लाए हुए हैं. भक्तके लाए हुएमॄ क्या विशेषता है? यदि याॄ कहते हो तो इसका उत्तर है कि प्रेमसे थोड़ा सा भी भक्त द्वारा दिया हुया मुझे बहुत दीखता है, कारण कि, प्रेम अन्तःकरणका धर्म है. हृदय

अणु है अतः उसकी अपेक्षा अधिक लाता है वह लाया हुआ 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस गीता वाक्यानुसार अधिक हो जाता है. मेरा तो यह नियम है, कि प्रेमसे जो वस्तु लाई जाती है, वह हृदयसे लाई जाती है, हृदय अणुमात्र है और ये तण्डुल चार मुट्ठी भर होनेसे हृदयसे अधिक हैं. हम तो वे हृदयरूप ही समझ ग्रहण करते हैं, अतः अणु भी लाया हुआ मेरे समान होनेसे 'भक्ष्य' कम परिमाण ही उचित है, इसलिए वह मेरे लिए बहुत ही हो जाता है. अभक्तका बहिर्दृष्टिसे अर्थात् बिना प्रेमसे लाया हुआ है, बहिर्दृष्टि ब्रह्माण्डमृ है, अतः मैं भी उसके ग्रहण करनेमृ वैसा ही बन जाता हूं, अतः वह अपनी सामर्थ्यसे कितना भी लाया हुआ मुझे तृप्त नहीं कर सकता है, क्यृाकि वह मेरे लिए अल्प हो जाता है, कारण कि, मैं महान् ब्रह्माण्डरूप होकर ही ग्रहण करता हूं. जिससे बहिर्दृष्टिसे अभक्तका लाया हुआ कितना भी अधिक हो तो मुझे प्रसन्न नहीं कर सकता है, अथवा 'भक्तयैव तुष्टिमभ्येति' भगवान् तो भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं न कि दूसरे प्रकारसे. यृा प्रेम तो साधारण ही मेरे पास आ जाता है उसकी देह धर्मार्थमृ ही लगी हुई हैं, लिंग शरीर उसने ही रोक रखा है इसलिए तण्डुलमृ आश्रित उसकी भक्ति ही यहां आई है, अतः पदार्थोंका भक्तिके साथ सहभाव कहा जाता है. जो अभक्त हैं वे प्रेम रहित होनेसे रूक्ष हैं, लोकमृ भी घृत आदिसे चुपड़ा हुआ स्निग्ध पदार्थ ही मनको आनन्द देता है, न कि रूखा नीरस पदार्थ प्रसन्न करता है, विधिमृ दो प्रयोजक हैं, एक अधिकार और दूसरा करण, निषेधमृ तो विशेष कहते हैं कि करण तो सिद्ध ही है प्रथवा अभक्तकी भक्ति भी अभक्ति ही है, यृा।।३।।

आभासार्थ : इस प्रकार पदार्थ स्थिति कहकर आपने बलपूर्वक स्वयंकेलिए जिसके हेतुकी तरह अपना 'पत्रं पुष्पं' श्लोकमृ कहते हैं :

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः ।।४।।

श्लोकार्थ : मुझमृ ही जिसकी आत्मा है, वैसेका प्रेमसे दिया हुआ जो पत्र, पुष्प, फल और जल है, उसको मैं स्वीकार करता हूँ।।४।।

व्याख्यार्थ : 'पत्र' तुलसी आदि 'पुष्पं' लवंग आदि 'फलं' आम्र आदि 'तोयं' गंगाजलादि, ये चार ही विकार रहित और अनुपहृत(अप्रभावित) हो और अल्पपाकादिसे मिला हुआ हो जो अग्नि संस्कारादिके अभाववाले हो. कोई कहते हैं कि जो वनस्थ हैं, दरिद्र हैं और परमहंस हैं उनकेलिए ये चार उपलक्षण

विधिसे कहे हुए हैं, जैसे ब्राह्मण द्वारा विकृत और उपहृत(प्रभावित) ही भक्षण किया जाता है वैसे मैं भक्षण नहीं करता हूँ, विचारक कहते हैं कि उत्तम संस्कारसे संस्कार किया हुआ जो अविकृत है वह ही मैं आरोगता हूं. एक द्वारा उनमेंसे लाया हुआ एक हो, तो भी मैं उसका भक्षण कर लेता हूँ कारण कि किसीकी भी चारमें विशेष श्रद्धा नहीं होती है, अतः उदिष्ट(विशेष रूपसे कही हुई बातका)का विकल्प है यह प्रकट करनेकेलिए 'तत्' पद दिया है जिसका भावार्थ है पत्र आदि चारमेंसे कोई एक भी हो तो मैं पुरुषोतम हूं अतः मेरे लिए अपने अधिकारानुसार बनाके तैयार किया हुआ, जहां भी कुछ निवेदन हो, तो वहां ही मैं आरोगता हूं.

दानके समय, भक्तिसे दान होता है. कोई पुत्रको यथेष्ट देता है, मुझे तो उससे भी विशेष देता है, इसलिए 'भक्त्युपहृतं' भक्तिसे लाया हुआ, अर्थात् उस स्थानसे उठाकर मेरे समीप लाने तक स्नेह नहीं टूटे ऐसी प्रक्रियाके साथ स्नेहमग्न हो लाते हैं तब मैं वहां ही आरोगकर उनके स्नेहको बढाता हूं. कोई कहते हैं कि स्मरण सहित स्नेह होना चाहिए, और विशेषमें वह द्रव्य यदि कामादि दोषसे रहित, मुझमें ही जिसके अन्तःकरणकी स्थिति है, वह लाता है, तो निश्चय मैं आरोगता हूं. 'अशन' शब्द भोजनकी क्रियाका उपलक्षक है वास्तविकमें तो ये सर्व पदार्थ इन चारमें ही आ जाते हैं, जैसे कि, अन्न वस्त्र आदि भी फल हैं, दुग्ध, ईख, रस आदि सर्व जल है, ताम्बूल आदि 'पत्र' हैं, सुवर्ण रत्न आदि पुष्प गिने जाते हैं भीतर प्रवेश होना ही भोजन है, जहां कहीं भी रखा हुआ अपन लेते हैं।।४।।

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तोऽपि द्विजस्तस्मै व्रीडितः पतये श्रियः।
पृथुकप्रसृतिं राजन्न प्रायच्छदधोमुखः ।।५।।

श्लोकार्थ : हे राजन्! इस प्रकार भगवान्ने कहा, तो भी लज्जाके कारण नीचा मुख कर बैठे हुए सुदामाने लज्जासे लक्ष्मीके पति भगवान्को वे तण्डुल नहीं दिए जो स्त्रीने भगवान्को भूट करनेकेलिए दिए थे।।५।।

व्याख्यार्थ : भगवान्ने कहा कि स्त्रीने लाकर मेरे लिए तुमको दिए हैं. तुम जो मेरे भक्त हो, उसने भक्तिसे भेजे हैं, इस कारण वे मुझे देने चाहिए. इस प्रकार ब्राह्मणको कहा, किन्तु ब्राह्मण संकोचवाला हो गया और अल्प बुद्धि था.

अतः लक्ष्मीके पति भगवान्‌को सेर भर चावल नहीं दिए, लाजके मारे नीचा मुख कर बैठा ही रहा और मनमृ विचारा कि मैं लाया ही क्या हूं? जो कुछ लाया हूँ वह तो अति साधारण मनुष्यृके खानेके योग्य हैं. अतः कैसे दूं? भगवान् भी फिर विचारने लगे कि यह तो देता नहीं, तो भी लेना चाहिए वा नहीं? इसकेलिए विचारते हैं कि इसको(सुदामाको) सम्पदा देनी चाहिए वा नहीं?।।५।।

कामितं दोषरहितं भगवांस्तु प्रयच्छति।
अलौकिकत्वात्संपत्तेर्दोषाभावः सुनिश्चितः।।का.१।।

भगवान् जो कुछ सम्पदा देते हैं, वह दोष रहित होती है, क्यृकि वह सम्पदा अलौकिक होनेसे निश्चय निर्दोष है।।१।।

कामाभावस्त्वस्य सिद्धो न देयं तत्कथञ्चन।
स्वत आगमनं तस्य न भवत्येव भार्यया।।का.२।।

इसको(सुदामाको) किसी प्रकारकी कामना नहीं है, अतः इसको कुछ भी नहीं देना चाहिए क्यृकि इसका यहां आना अपनी इच्छासे नहीं है किन्तु भार्याके कहनेसे आया है।।२।।

प्रेषितस्यागतिस्त्वस्य भार्यागतिरियं मता।
प्रतिबन्धकता त्वस्य दाने लज्जादिदोषतः।
तस्मात्तस्या गृहीत्वैतत् तस्यै दास्यामि निश्चितम्।।का.३-५।।

भार्याने भेजा है, अतः यहां यह आना भार्याका ही है. यह तण्डुल नहीं देता है, इसका कारण लज्जादि दोष है. इस कारणसे ये चांवल उस भार्याके हैं, उसके चावल लेकर सम्पदा भी उसको ही दूंगा. यह निश्चित् है।।३-५।।

आभासार्थ : यृ कहते हुए 'सर्वभूतात्म दृक्' श्लोकमृ भगवान् इसकी निर्दोषता प्रकट करते हैं :

सर्वभूतात्मदृक् साक्षात्तस्यागमनकारणम्।
विज्ञायाचिन्तयन्नायं श्रीकामो माभजत्पुरा।।६।।

श्लोकार्थ : सकल भूतृके हृदयृके ज्ञाता भगवान्‌ने इसके आनेका कारण जान लिया कि यह लक्ष्मी लेनेकी इच्छासे मेरे पास नहीं आया है और इसने पूर्वमृ भी लक्ष्मीकेलिए भजन नहीं किया है।।६।।

व्याख्यार्थ : भगवान् सकल जीवृके अन्तःकरणको जानते हैं अतः इसके और इसकी पत्नीके हृदयको भी जानते हैं, इसका यहां आनेका साक्षात्

कारण इसकी स्त्रीकेलिए ही है, केवल प्रासंगिक अपने लिए है, यह जानकर विचार करने लगे. इस प्रसंगमृ अर्थ संदिग्ध(संदेहवाला) है, उस संदेहको कहते हैं कि इस ब्राह्मणको लक्ष्मीकी इच्छा नहीं है, पहले भी यह मेरा भजन करता था तब भी लक्ष्मीकी इच्छा नहीं की थी, अतः यह भक्त निष्काम है, इसलिए इसको अपना स्वरूप ही देना चाहिए न कि लक्ष्मी।।६।।

पत्न्या मे प्रेषितायातः सखा प्रियचिकीर्षया।
प्राप्तो मामस्य दास्यामि संपदोऽमर्त्यदुर्लभाः ।।७।।

श्लोकार्थ : पत्नीके कहनेसे यहां आया है और मेरा मित्र है, अतः मेरे प्रिय करनेकी इच्छासे भी आया है, देव दुर्लभ सम्पदाएं इसको दूंगा।।७।।

व्याख्यार्थ : अभी तो स्त्रीका भेजा हुआ मेरे पास आया है, तो क्या संदेह है? अब स्त्रीकेलिए ही देनी चाहिए, यदि याॄ कहो तो यह भी मेरा मित्र है, और मेरे प्रिय करनेकेलिए आया है, अतः मैं इसका हित करूं? वा इसकी पत्नीका हित करूं? भोग यह करेगा वा उसकी पत्नी करेगी? यदि यह करेगा तो नहीं देना चाहिए, यदि वह करे तो देना चाहिए. यदि इसको दूंगा तो यह उसका उपभोग करनेसे स्वरूपसे गिर जाएगा, यदि भार्याको दूंगा तो प्रासंगिक भोग होगा. वह नाश करनेवाला नहीं है और याॄ उसको देनेसे उसका भी प्रासंगिक मोक्ष हो जाएगा, इसलिए तण्डुलाॄका भक्षण आवश्यक है. इसके पास यदि दानकी वस्तु होती तो याॄ ही दे देते, किन्तु अन्य ब्राह्मणाॄसे कुछ लेकर, उन्हॄ कुछ नहीं देते. अतः दूसरा पक्ष कहते हैं कि यह मेरी प्रीतिकेलिए ही मेरे पास आया है, इसलिए इसका केवल सम्बन्ध ही है, न कि दान है. याॄ विचार कर जो देता है उसका उत्कर्ष बताते हैं, जो सम्पदाएं दी जाएगी, वे देवाॄको भी दुर्लभ हैं. भगवान् जब इन्द्र बने थे, उस समय जो सम्पदाएं थीं, वे सम्पदाएं भगवान्ने इसको दी. यह ज्ञान दूसरे वाक्याॄसे होता है. 'सुदामरंकभक्तार्थ–भूम्यानीतेन्द्रवैभव इति' रंकभक्त सुदामाकेलिए ही पृथ्वी पर इन्द्रका वैभव भगवान्ने ला दिया है, देव दुर्लभ कहनेका आशय यह है कि यह इन्द्र देव इन्द्र नहीं है, किन्तु भगवान् ही इन्द्र हैं, उनकी ही ये सम्पदाएं हैं।।७।।

इत्थं विचिन्त्य वसनाच्चीरबद्धान् द्विजन्मनः।
स्वयं जहार किमिदमिति पृथुकतण्डुलान्।।८।।

श्लोकार्थ : याॄ विचार कर ब्राह्मणके फटे वस्त्रमृ, बांधे हुए तण्डुल, यह

क्या है? ऐसे कहकर भगवान्ने स्वयं अपने हस्तसे उस कपड़ेमृसे तण्डुल ले लिए।।८।।

व्याख्यार्थ : यृ विचार पूर्वक निश्चय कर, वस्त्रसे आच्छादित(ढके हुए) जीर्ण वस्त्रमृ बन्धे हुए तण्डुल थे, उनका वह आच्छादन हटा लिया, जब देखा ब्राह्मण दूसरे कार्य करनेमृ व्यग्र होनेसे इस तरफ उसका ध्यान नहीं तब भगवान्ने 'यह क्या है?' यृ कहकर स्वयं तण्डुल ले लिए।।८।।

आभासार्थ : पीछे उस पोटलीको खोल चांवल देखकर भगवान् 'नन्वेतदुपनीतं' श्लोक कहने लगे :

नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे।
तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः ।।९।।

श्लोकार्थ : हे सखा! यह तो आप ऐसी चीज ले आए हो, जो मुझे बहुत प्यारी है, हे अंग! ये तण्डुल तो मुझे और विश्वको तृप्त करनेवाले हैं।।९।।

व्याख्यार्थ : यह भृट अत्यन्त आनन्द देनेवाली है, मित्रके नाते और संकोचवश न देने पर लेने योग्य है. इन तण्डुलृका माहात्म्य बताते हैं कि है अंग! ये तण्डुल ऐसे उत्तम हैं जो मुझे और समग्र विश्वको तृप्त करते हैं. ये तण्डुल भक्तिसे पूरित हैं।।९।।

आभासार्थ : इसी प्रकार, विचार कर, एक मुट्ठी चावल लेकर भक्षण किये यृ 'इतिमुष्टिं' श्लोकमृ कहते हैं :

इति मुष्टिं सकृज्जग्ध्वा द्वितीयं जग्धुमाददे।
तावच्छ्रीर्जगृहे हस्तं तत्परा परमेष्ठिनः ।।१०।।

श्लोकार्थ : यृ कहकर, एक मुट्ठी तो आरोग गए और जब दूसरी आरोगने लगे तब भगवत्परायण लक्ष्मीने भगवान्का हाथ पकड़ लिया।।१०।।

व्याख्यार्थ : पोटलीमृ जो चांवल थे, उन सबको खानेकेलिए उनमृसे दूसरी मुट्ठी ले ली, तब लक्ष्मीने रोका, कैसे रोका? इस पर कहते हैं कि भगवान्के हस्तको पकड़ लिया, लक्ष्मी लक्ष्मणामृ प्रविष्ट थी, प्रत्यक्षमृ तो लक्ष्मणाने हाथ पकड़ा था, किन्तु वास्तवमृ, लक्ष्मणामृ लक्ष्मीने प्रवेश कर हाथ पकड़ लिया था, इस प्रकार खानेमृ प्रतिबन्ध क्यृ किया, जिसका अभिप्राय प्रकट करते हैं कि वह लक्ष्मी भगवत्परायण है उसने जान लिया, कि यदि सर्व आरोग लृगे, तो सर्व सम्पत् उसको दे दृगे, पश्चात् मुझे भी दे दृगे, मैं ही सब कुछ हूं, मैं तो

भगवत्परायण हूं अतः वहां न जाऊंगी, यह हाथ रोकनेका भाव था. इस दूसरी मुट्ठी खानेमॄ तो लक्ष्मी नहीं देते थे, तो दूसरी मुट्ठी खानेमॄ प्रतिबन्ध क्यॄ किया? दूसरी मुट्ठी आरोगते, तो आमुष्मिक फल मिल जाता, इसकी मर्यादा यह हुई, कि सर्व ब्रह्माण्ड आ गया(दे दिया) अब भगवान् ही ब्रह्माण्ड विग्रह है, अर्थात् अपनेको भी दे डालना चाहते हैं, अतः दूसरी मुट्ठीके आरोगनेमॄ प्रतिबन्ध डाल दिया, इसलिए 'परमेष्ठिनः' पद दिया है, भगवान्के पुरुषरूपपनमॄ लक्ष्मी वैभी सी ब्रह्माण्डकी अर्धरूपा हुई।।१०।।

आभासार्थ : लक्ष्मी, ब्रह्माण्ड विग्रह पुरुषरूप भगवान्की सम्बन्धिनी है, यदि सुदामाको ब्रह्माण्डरूप फलकी प्राप्ति हो गई तो उसकी अर्धरूपा लक्ष्मी भी उसके आधीन हो जाएगी, जिससे लक्ष्मीका अनिष्ट होगा. अभी भगवान्के संग रहकर उनकी सेवा करती है, फिर दे देने पर, फलरूपसे लक्ष्मी उसके(सुदामाके) आधीन हो जावेगी, यॄ अनिष्ट होगा अतः फल मात्रकी यह प्रतिबन्ध हुई इस शंकाको मिटानेकेलिए अपना अभिप्राय 'एतावतालं' श्लोकसे प्रकट करती है :

एतावतालं विश्वात्मन् सर्वसम्पत्समृद्धये।
अस्मिंल्लोकेऽथवामुष्मिन् पुंसस्त्वत्तोषकारणम्।।११।।

श्लोकार्थ : हे विश्वात्मा! भक्त पुरुष पर जब आप प्रसन्न होते हैं, तब आप उसको इतनी सम्पदा देते हैं, जिससे आपको इस लोक और परलोकमॄ आनन्द आता है, अतः आपने अब जो एक मुट्ठी खाकर सम्पदा दी है इतनी ही काफी है।।११।।

व्याख्यार्थ : इसके दिए हुए अल्प,(केवल मुट्ठी भर चावल)के बदलेमॄ जो आपने दिया है, वह बहुत है, अतः इतनेसे ही बस करो क्यॄकि यही काफी है, नहीं तो 'एतावता अलं'के स्थान पर 'एतावत् अलं' कहते, यों भी न कहना, कि मैं इसको सब दे दूंगा, क्यॄकि आप विश्वात्मा अर्थात् सर्व विश्वकी आत्मा हो, यदि सब इसको दे दोगे तो दूसरॄको क्या दोगे? दूसरॄको भी देना आपको आवश्यक है, जो सर्व धन आदि सम्पदाएं हैं, उनकी समृद्धिकेलिए, केवल एक मुट्ठी आरोगनेसे इस लोककी सर्व सम्पदा सिद्ध हो सकती है, न कि परलोककी भी, इस पर कहते हैं, कि इस लोक अथवा परलोकमॄ इसको भोगकी इच्छा ही नहीं है, क्यॄकि यह उत्तमाधिकारी है, यदि किञ्चत् कभी भोगकी अपेक्षा इस लोक वा परलोकमॄ हो, तो भी, एक ही मुट्ठी उसमॄ प्रयोजक हो सकती है. समूह वा

संग्रह तो इसको भी इच्छित(पसन्द) नहीं है. केवल, एक मुट्ठीसे कैसे समस्त सम्पत्ति प्राप्त होगी? इसके उत्तरमॄ कहते हैं, कि इसमॄ आपकी प्रसन्नता ही कारण है. एक मुट्ठीके भक्षण करते हुए, प्रयत्न आरम्भ किया. जब तक सर्व निगल जाए तब तक जो रस प्रकट होता है उसके रससे वह तृप्त हो जाता है, फिर दूसरी मुट्ठीके भक्षण करते हुए प्रयत्न आरम्भ किया जाए उससे फिर अन्य प्रीति उत्पन्न होगी उसको फल तो एक ही देना है, अतः आपको सन्तोष होता है, जो दूसरी मुट्ठी आरोगोगे, तो भी सन्तोष ही आपको होगा अन्य कुछ नहीं, इसलिए दूसरेका उत्पादन नहीं करना चाहिए, अर्थात, दूसरी मुट्ठी आरोगनेसे आपको कोई विशेष लाभ नहीं इसलिए दूसरी मत आरोगो यॄ ही भावार्थ है।।११।।

आभासार्थ : इसी तरह भगवान् और लक्ष्मीका संवाद कहकर एक ही फल होगा यह निश्चय कर ब्राह्मणको उस फलकी प्राप्ति करानेकेलिए अपने घर जानेको कहते हुए भगवान्की सन्निधिमॄ उसको अपने अभिलषित आनन्दका वर्णन 'ब्राह्मणस्तां तु' श्लोकमॄ करते हैं :

ब्राह्मणस्तां तु रजनीमुषित्वाच्युतमन्दिरे।
भुक्त्वा पीत्वा सुखं मेने आत्मानं स्वर्गतं यथा।।१२।।

श्लोकार्थ : ब्राह्मण तो, उस रात्रिमॄ भगवान्के मंदिरमॄ रहा, वहां भोजन और पान कर ऐसा आनन्द पाया जिससे मानने लगा कि मैं मानो स्वर्गमॄ बैठा हूं।।१२।।

व्याख्यार्थ : भगवान्के मन्दिरमॄ निवास कर, अनेक प्रकारके अमृत आदि रस युक्त पदार्थोंको खा और पीकर, अलौकिक भोग भोगनेमॄ समर्थ होके, अपनेको स्वर्गमॄ बैठा हुआ समझने लगा, क्यॄकि स्वर्गमॄ ही अमृतपानादि प्राप्त होते हैं. भगवान्ने पूजामॄ कुछ आभरण, वस्त्रादि और गौ दी, यॄ जाना जाता है जिससे सुन्दर वेष धारण कर घर जावे।।१२।।

आभासार्थ : अनन्तर प्रातः काल वहांसे रवाना हुआ, यह 'श्वोभूते' श्लोकमॄ कहते हैं :

श्वोभूते विश्वभावेन स्वसुखेनाभिनन्दितः।
जगाम स्वालयं तात पथ्यनुव्रज्य नन्दितः।।१३।।

श्लोकार्थ : सर्वत्र जिसका प्रभाव प्रकट है, वैसे सुखरूप भगवान्से सुदामाने दूसरे दिन बिदा ली, तब प्रभुने प्रसन्नतासे उसका अनुमोदन किया एवं

उसके साथ, मार्गमृ आगे जलकी खाई तक चलकर बिदा दी, और जब वह रवाना हुआ तब भगवान् अपने घर लौट आए।।१३।।

व्याख्यार्थ : समक्ष देनेमृ हेतु यह है, कि आपका प्रभाव समस्त विश्वमृ है, अतः जहां जावेगा वहां ही सर्वके आविर्भाव होते हुए ही सब कुछ प्राप्त होनेका संभव है, तो फिर यहांसे ले जानेकी क्या आवश्यकता है. जिसके उत्तरमृ कहते हैं, कि भगवान्ने मित्रताका ही पुरस्कार किया है, इसलिए सखा बहुत नहीं देता है. सुदामाने कहा मैं जा रहा हूं इसका आपने अभिनन्दन किया, कि भले जाइये, पश्चात् सुदामा अपने घरको रवाना होने लगा, फिर उन(भगवान्)ने भी मार्गमृ खाई तक आकर उसको सन्तोष कराया, अनन्तर घर लौट आए।।१३।।

आभासार्थ : ब्राह्मणको रास्तेमृ, भार्या अप्रसन्न होगी, इस भावसे चिंता होने लगी, जिसका वर्णन 'स चालब्धवा' श्लोकमृ करते हैं :

स चालब्ध्वा धनं कृष्णान्न तु याचितवान्स्वयम् ।
स्वगृहान् व्रीडितोऽगच्छन्महद्दर्शननिर्वृतः ।।१४।।

श्लोकार्थ : श्रीकृष्णने स्वयं इसको धन नहीं दिया और न इसने ही मांगा, भगवान्के दर्शन होनेसे आनन्दमग्न लज्जित होते हुए घर लौट आया।।१४।।

व्याख्यार्थ : भगवान्ने स्वतः धन नहीं दिया, अतः धन न मिलनेसे मित्रसे स्वयं(खुद)ने मांगा नहीं, पश्चात् दोनृ प्रकार लज्जित हो अपने घर जाने लगा. भगवान्के दर्शन हो जानेसे आनन्द मग्न हो गया जिससे धन न मिलनेका उसको थोड़ा भी दुःख न हुआ।।१४।।

आभासार्थ : उसके बाद जैसे उसका मनोरथ पूर्ण हुआ, वह 'अहो ब्रह्मण्य' श्लोकमृ कहते हैं :

अहो ब्रह्मण्यदेवस्य दृष्टा ब्रह्मण्यता मया ।
यद्दरिद्रतमो लक्ष्मीमाश्लिष्टो बिभ्रतोरसि ।।१५।।

श्लोकार्थ : अहो! ब्रह्मण्यदेवकी ब्रह्मण्यता मैंने देखी, जो वक्षःस्थलमृ लक्ष्मीको धारण करनेवाले भगवान् हैं, वह मुझ दरिद्रीसे आलिंगन पूर्वक मिले।।१५।।

व्याख्यार्थ : धर्मीसे तो अर्थ सिद्ध ही है, धर्मोंसे अर्थ सिद्ध होनेमृ सन्देह है. याृ ब्रह्मण्य देव भी विशेष अवसर होते हुए ब्राह्मणका हित करते ही हैं. इसका तो अवसर न होने पर भी वैसा करनेमृ आश्चर्य है. मैंने ही भगवान्की ब्रह्मण्यता

देखी, वह कहते हैं, कि जो मैं अत्यन्त दरिद्र हूं, दरिद्रताके कारण देखनेके भी योग्य नहीं हूं तो भी उरमृ लक्ष्मीको धारण करनेवाले मुझसे आलिंगन कर मिले।।१५।।

आभासार्थ : इसको विशदरूपसे वर्णन करते हैं कि 'क्वाहं दरिद्रः' :

क्वाहं दरिद्रः पापीयान् क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः।
ब्रह्मबन्धुरिति स्माहं बाहुभ्यां परिरम्भितः ।।१६।।

श्लोकार्थ : दरिद्र और पापी मैं कहां? और लक्ष्मीके निवास भगवान् कहां? मुझे केवल ब्राह्मण जाति जानकर मुझसे आलिंगन किया।।१६।।

व्याख्यार्थ : इस कारण ही पापी होनेसे, दरिद्रतासे मेरी देह व्याप्त है, अथवा दरिद्रतासे अनुमित(अनुमान किया हुआ) पापवाला हूं वैसा मैं कहां? और कहां लक्ष्मीके निवास भगवान्? दोनृ समान न होनेसे सखापनकी सम्भावना भी नहीं हो सकती है, तो आलिंगन कैसे किया? मैं ब्राह्मण हूं यह प्रसिद्ध है, ब्राह्मण मान देने योग्य है इसलिए ही आलिंगन आदि किया है।।१६।।

आभासार्थ : वह ब्रह्मका भाव स्वयं विष्णु है, इस प्रकार समानता, मान आलिंगन और सर्व प्रकारके भोगका दान दिया यह कहते हैं:

निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यङ्के भ्रातरो यथा।
महिष्या वीजितः श्रान्तो बालव्यजनहस्तया ।।१७।।

श्लोकार्थ : प्रियाके सेवन करने योग्य पलंग पर जैसे बंधुओृको बिठाया जावे वैसे मुझे बिठाया, मार्गके परिश्रमको मिटानेकेलिए भगवान्की महिषीने हाथमृ चंवर लेकर वायु की।।१७।।

व्याख्यार्थ : अपने स्थान पर आपका विराजमान होना ही योग्य है न कि दूसरेका, इसलिए ही 'भ्रातरो यथा' जैसे बान्धव पद दिया है, याृ कहकर इसका अनौचित्य मिटा दिया है. उपचार तो किए ही हैं, पटरानीने पवन की, क्याृकि मैं थका हुआ था यह जान उस थकावटको दूर करनेकेलिए चंवर हाथमृ लेकर पवन की. चंवरसे वायुका करना यह राजाओृका उपचार है।।१७।।

आभासार्थ : पश्चात् भगवान्ने भी ब्राह्मण जानकर पूजन किया, याृ 'शुश्रूषया' श्लोकमृ कहते हैं :

शुश्रूषया परमया पादसंवाहनादिभिः।
पूजितो देवदेवेन विप्रदेवेन देववत् ।।१८।।

श्लोकार्थ : देवॄके देव और ब्राह्मण ही जिनकेलिए देव हैं, वैसे भगवान्ने उत्तम सेवा करते हुए पांव दाबना आदि क्रियाॲसे देव समान मेरा पूजन किया।।१८।।

व्याख्यार्थ : पांव दावना जिनकी आदि(आरम्भ) है वैसे उपचार नृत्य गीत आदि चौसठ हैं. इतनी अधिकता क्यॊ? तो कहते हैं कि आप देवॄके देव हैं, देव पूजने योग्य हैं उन पूज्य देवॄको भी जो पूजने योग्य हैं, तो शेष क्या रहा? भगवान् ऐसे हैं, तो फिर हीन भावका अवलम्बन क्यॊ करते हैं? जिसका उत्तर देते हैं कि, ब्राह्मणको अपना देव मानते हैं, अतः देवकी तरह पूजा की, स्वल्प भी उसमॄ कमी नहीं की जैसे देवके पूजनमॄ स्नान आदि देवको स्वयं अपने हाथॊसे कराया जाता है शरीर भी पॊछा जाता है. देवता कुछ नहीं करता है इसी तरह भगवान्ने भी अपने हस्तॊसे सुदामा ब्राह्मणकी पूजा की।।१८।।

आभासार्थ : इस प्रकार भगवान्की स्तुति कर धन न देनेसे दूसरे प्रकारके वचन कहेगा उसके निराकरणकेलिए दूसरा हेतु यहां स्थापित करते हैं 'स्वर्गापवर्गयोः' श्लोकमॄ :

स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि संपदाम्।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्।।१९।।

श्लोकार्थ : स्वर्ग, मोक्ष और पाताल लोकके सुख, ऐहिक सम्पत्ति और सर्व प्रकारकी सिद्धिॲ, इन पांच प्रकारके फलका मूल कारण भगवान्के चरणारविंदकी सेवा।।१९।।

व्याख्यार्थ : जगत्मॄ तीन प्रकारके फल प्रसिद्ध हैं: १.तीन लोकके सुख, २.मोक्ष, ३.अणिमादि सिद्धियां, इनकी प्राप्तिका मूल कारण एक ही भगवान्के चरणॊकी सेवा है, सर्व ही पुरुषॊका, न कि एकका, अन्य देवॄके उपासकॊकेलिए दूसरा हेतु है यॊ, किन्तु मुख्य मूल कारण हरिकी सेवा है।।१९।।

आभासार्थ : यदि कहो कि चरण सेवा कारण है तो पूर्व चरण सेवा नहीं की अब चरण सेवाकेलिए भगवान्के पास गया, तब क्यॊ नहीं दी, इसलिए चरण सेवा कारणता ही सिद्ध नहीं होती है, इसके उत्तरमॄ 'अधनोऽयं धनं प्राप्य' श्लोक कहता है :

अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत्।
इति कारुणिको नूनं धनं मे भूरि नाददात्।।२०।।

श्लोकार्थ : निर्धन धन पाकर अहंकार(घमण्ड)मॅ आ जाएगा, फिर मुझे भूल जाएगा यॅ सोचकर, मुझे बहुत धन नहीं दिया, क्यॅकि दयालु है, अतः मुझ पर दया की, जो धन नहीं दिया, यदि देते तो मैं अभिमान(घमण्ड)मॅ आनेसे भगवत् स्मरण भूल जाता।।२०।।

व्याख्यार्थ : धनसे मद अवश्य होता है, मदसे अपनी तथा प्रभुकी विस्मृति हो जाती है. इसको धन दूंगा तो मुझे भूल जाएगा, मुझे भूल जानेसे इसका सब नाश हो जाएगा, अतः दयालु भगवान्ने बहुत ऐश्वर्य नहीं दिया, स्वल्प तो दिया, इससे यॅ सूचित किया है।।२०।।

आभासार्थ : 'इति चिंतयन्' श्लोकसे उपसंहार करते हैं :

इति तच्चिन्तयन्नन्तः प्राप्तो निजगृहान्तिकम्।
सूर्यानलेन्दुसंकाशैर्विमानैः सर्वतो वृतम्।।२१।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार विचार करता हुआ वह ब्राह्मण अपने गृहके पास आ पहुंचा. वहां देखे तो सूर्य, अग्नि और चन्द्रमाके समान प्रकाशमान-विमान चारॅ ओर शोभ रहे हैं।।२१।।

व्याख्यार्थ : उस प्रमेयको विचारता हुआ अपने गृहके पास आ पहुंचा वहां आगे जो न देखा था वह नवीन देखा, ऊपर, चारॅ तरफ और मध्यमॅ क्या था? इसका वर्णन करता है, सूर्यका दिनमॅ प्रकाश होता है, अग्निका सन्ध्याके समय उजाला होता है, चन्द्रमाका रात्रिको प्रकाश होता है, वहां विमान तो तीनॅ कालॅमॅ भी शोभावाले थे, मनके अनुकूल सुख देनेवाले विमानॅसे चारॅ तरफ घिरा हुआ था।।२१।।

आभासार्थ : इसके बाद चारॅ तरफ जो शोभा हो रही थी उसका 'विचित्रो' श्लोकसे वर्णन करते हैं :

विचित्रोपवनोद्यानैः कूजद्द्विजकुलाकुलैः।
प्रफुल्लकुमुदाम्भोजकह्लारोत्पलवारिभिः।।२२।।

श्लोकार्थ : जिनमॅ अनेक पक्षियॅके कुल कलरव कर रहे हैं वैसे विचित्र उपवनवाला, प्रफुल्लित कुमुद, कल्हार और उत्पल जिसमॅ शोभा दे रहे हैं वैसे जलाशयॅवाला।।२२।।

व्याख्यार्थ : जिसमॅ फलॅकी प्रधानता होती है, उसे उपवन कहते हैं और जिसमॅ पुष्पॅकी प्रधानता होती है, उसे उद्यान कहते हैं. बहुवचन देनेका तात्पर्य

है, कि इनके अन्य भी प्रकार हैं–कलरव करनेवाले अनेक पक्षियाॅके कुलाॅसे व्याप्त याॅ कहकर फल और पुष्पाॅकी समृद्धि बताई, इस प्रकार तामस राजस भावाॅका निरूपण कर, सात्त्विक भावाॅको कहते हैं–पोखरिणी जलाॅमॅ खिले हुए कुमुदाॅसे व्याप्त है. 'कुमुद' रात्रिमॅ विकसित होते हैं और व्यवस्थित नहीं, कमल दिनको, कल्हार सन्ध्याको और उत्पल रात्रिको नियत विकास पाते हैं।।२२।।

आभासार्थ : मध्यका 'जुष्टं स्वलंकृतैः' श्लोकसे वर्णन करते हैं :

जुष्टं स्वलंकृतैः पुम्भिः स्त्रीभिश्च हरिणाक्षिभिः।
किमिदं कस्य वा स्थानं कथं तदिदमित्यभूत्।।२३।।

श्लोकार्थ : शृंगार किये हुए पुरुष व मृगनयनी नारियाॅसे सुशोभित स्थान देख विचारने लगा कि यह क्या? यह स्थान किसका है? क्या यह स्थान वह ही है, जहां मेरा गृह था, तो फिर याॅ कैसे हो गया? ।।२३।।

व्याख्यार्थ : परम सौन्दर्यसे युक्त मृगनयनी स्त्रियाॅवाला इस गृहका भीतरी भाग देखकर, गन्धर्वनगरादिकी शंकासे विचारमग्न हो कुछ अलौकिककी संभावना समझ कहने लगा, कि यह क्या? यह जो मैं देख रहा हूं वह गन्धर्व नगरके मायाका वैभव आदिमॅसे एक है? वा सत्य ही है, पश्चात् पदार्थोंकी स्थिरता देख कहने लगा कि ''मैं ही भ्रमसे दूसरे स्थान पर तो नहीं आ गया हूं. तो यह किसका दूसरा स्थान है?'' पश्चात् चाराॅ ओरके भागाॅको देखकर निश्चय किया कि ''यह स्थान तो मेरा ही है, किन्तु वह मेरा घर तो बहुत पुराना और साधारण था, वैसा यह ऐसा सुन्दर कैसे हो गया?'' याॅ विचार करने लगा।।२३।।

आभासार्थ : इस प्रकार अचम्भेमॅ पड़कर उसका निर्णय करनेकेलिए 'एवं मीमां समानं' श्लोकमॅ दूसरा कौतुक कहते हैं :

एवं मीमांसमानं तं नरा नार्योऽमरप्रभाः।
प्रत्यगृह्णन् महाभागं गीतवाद्येन भूयसा।।२४।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार वह ब्राह्मण विचार ही कर रहा था, तो इतनेमॅ देव समान कांतिवाले पुरुष और स्त्रियां बहुत जोरसे गाते–बजाते उस महाभाग्यवान्को लेनेकेलिए सामने स्वागत करने लगे।।२४।।

व्याख्यार्थ : मीमांसा शब्दका भावार्थ है कि ऐसे विचारके वचन हो जो पूजित हो अर्थात् उत्कृष्ट विचारवाले वचन हो, याॅ उत्कृष्ट विचार करनेवालेको पुरुष तथा स्त्रियां गीत गाते वाद्य बजाते हुए बधावनेकेलिए आए, यह तो पिशाच

जैसा दिखता है उसकेलिए गीत गाने और बाजे बजानेका कार्य कैसे किया जाता है? क्यूंकि वैसी योग्यता नहीं है, इस शंकाको मिटानेकेलिए 'महाभागं' पद दिया है कि यह जो पिशाच जैसा देखनेमूं आता है वह महान् भाग्यवान् है, उसमें भगवान्के स्वरूप और देवेन्द्र आवेश हैं, अतः योग्यरूपवाला है जिससे नृत्य आदिसे इसका स्वागत हुआ है।।२४।।

पतिम् आगतम् आकर्ण्य पत्न्युद्धर्षाऽतिसम्भ्रमात्।
निश्चक्राम गृहात् तूर्णं रूपिणी श्रीरिवालयात्।।२५।।

श्लोकार्थ : पतिके पधारनेके समाचार सुन पत्नी अति हर्षित हो, बड़े संभ्रमके साथ, जैसे मूर्तिमति लक्ष्मी घरसे निकलती है, वैसे शीघ्र घरसे निकलने लगी।।२५।।

व्याख्यार्थ : पश्चात् सुदामाके आनेसे पहले ही उसके स्थान पर स्वर्ग-पुरी प्रकट हो गई और उसकी स्त्रीमूं इन्द्राणीका प्रादुर्भाव हुआ, जिससे वह परम सुन्दरी हो गई. भगवान्ने जिस क्षणमूं तण्डुलकी एक मुट्ठी खाई उसी समय ऐसी अवस्था हो गई. उसी कालसे पति कब पधारूंगे यूं पतिका ही चिन्तन कर रही थी, अब पतिका आगमन सुन, उस एकमूं ही स्थिर बुद्धिवाली, वह हर्षके कारण प्रफुल्लित नेत्रवाली हो गई. बहुत जल्दी सर्व आभरणूंसे भूषित होकर, सर्व प्रकारके ऐश्वर्यसे युक्त, झटपट घरसे निकली, निकलती हुई उसका और स्थानका वर्णन करते हैं मानूं क्षीर समुद्रमूंसे कमलरूप गृहसे अवतार लेकर लक्ष्मी बाहर निकलकर आ रही है।।२५।।

पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा प्रेमोत्कण्ठाश्रुलोचना।
मीलिताक्ष्यनमद्बुद्ध्या मनसा परिषस्वजे।।२६।।

श्लोकार्थ : पतिव्रता पतिको देखकर प्रेममूं गद्गद् हो गई, जिससे नेत्र अश्रुपूर्ण हो गए, आंखे बन्द कर बुद्धिपूर्वक पतिको प्रणाम किया और मनसे आलिंगन किया।।२६।।

व्याख्यार्थ : पतिव्रता पतिको देख मनमूं विचार करने लगी, कि मेरेलिए ही पतिने इतना क्लेश सहा है, इसलिए इतने दिनूंके बाद दूरसे आए हैं, यूं प्रेममूं गद्गद होनेसे उसके नेत्र अश्रुपूर्ण हो गए. पश्चात् लज्जाके वशसे अथवा नेत्रूंमूं आए हुए जलको अपशकुन जान आंखे बन्द कर ली, पश्चात् यथोचित पूजा करने लगी विवेकवालीने बुद्धिसे प्रणाम किया, मनसे आलिंगन किया, इतना ही

करना योग्य है।।२६।।

आभासार्थ : अनन्तर ब्राह्मण पत्नीको देखकर अचंभेमॄ पड़ गया यॄ 'पत्नीं दृष्ट्वा' श्लोकमॄ कहते हैं :

पत्नीं दृष्ट्वा प्रस्फुरन्तीं देवीं वैमानिकीमिव।
दासीनां निष्ककण्ठीनां मध्ये भान्तीं स विस्मितः ।।२७।।

श्लोकार्थ : विमानमॄ बैठी हुई अप्सराके समान दैदीप्यमान, कण्ठमॄ सुवर्णके आभूषण पहने हुए दासियॄके मध्यमॄ भासमान अपनी स्त्रीको देख, उस ब्राह्मणको बहुत विस्मय होने लगा।।२७।।

व्याख्यार्थ : पूर्वकी अपेक्षा विशेष शोभावाली देवीको, देवताकी तरह वस्त्रालंकारॄसे पूजित उसमॄ विशेष तेज तथा भावादि देख यॄ मानने लगे, कि यह विमानमॄ स्थित अप्सरा सम है, किन्तु उससे भी विशेष है क्यॄकि सुवर्णकी मालाओॄको धारण करनेवाली अनेक दासियॄके मध्यमॄ शोभायमान है ऐसी अवस्थामॄ पत्नीको देख अचम्भेमॄ पड़ गया, यों जान गया कि यह सब भगवान्के आलौकिक चरित्र हैं।।२७।।

प्रीतः स्वयं तया युक्तः प्रविष्टो निजमन्दिरम्।
मणिस्तम्भशतोपेतं महेन्द्रभवनं यथा ।।२८।।

श्लोकार्थ : वह प्रसन्न हो, अपनी स्त्रीके साथ अपने गृहमॄ प्रविष्ट हुआ, वह गृह इन्द्रके भवनके समान सैंकड़ॄ मणि स्तंभोसे शोभित था।।२८।।

व्याख्यार्थ : पश्चात् यॄ निश्चय किया कि यह सब भगवान्ने कृपा कर दिया है, जिससे प्रसन्न हो पत्नीके साथ अपने मन्दिरमॄ प्रविष्ट हुआ उस मन्दिरका वर्णन करते हैं कि भवन तो एक ही था जहां पत्नीके साथ स्थिति थी किन्तु उसमॄ एक सौ, मणियुक्त स्तम्भ लगे हुए थे, इस प्रकार वह लोकसे उत्कृष्ट था यॄ कहकर सामान्यरूपसे उसकी उत्कृष्टता कहते हैं कि जैसे महेन्द्रका भवन होता है वैसा ही यह भी है।।२८।।

आभासार्थ : 'पयः फेननिभा' श्लोकसे तीन श्लोकॄमॄ वहांके पदार्थोंका वर्णन करते हैं :

पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः।
पल्यंका हेमदण्डानि चामरव्यजनानि च ।।२९।।

श्लोकार्थ : दूधके फेनके समान शय्या, सुवर्णके मंडे हुए हाथीदांतके

पलंग, सोनेके डण्डेवाले चंवर और पंखे ऐसे अन्य उपकरण भी थे।।२९।।

व्याख्यार्थ : सोनेके काममृ आनेवाली, बैठनेके योग्य, गृहके उपयोगी वस्तुआृका वर्णन किया जाता है, दूधके फेनके समान उच्च फूला हुआ, साफ बिछोना, हाथीदांतसे बने 'पलंग' वे दांत मध्यमृ सुवर्णसे जड़े हुए थे, सुवर्णके दण्डृवाले चंवर और पंखे थे, 'च' पदसे यह बताया है दूसरे भी शयनके साधन थे।।२९।।

आसनानि च हैमानि मृदूपस्तरणानि च।
मुक्तादामविलम्बीनि वितानानि द्युमन्ति च ।।३०।।

श्लोकार्थ : कोमल बिछौनृवाले सोनेका सिंहासन और मोतियृकी झालरीदार दैदीप्यमान चंदवे शोभ रहे थे।।३०।।

व्याख्यार्थ : बैठनेकेलिए जो आसन थे वे सब सोनेके बने हुए थे, उनके ऊपर जो बिछोने धरे थे, वे सब कोमल पट्ट वस्त्रृसे बने हुए थे, 'च' पदसे बताया है कि अन्य प्रकारके भी सिंहासनके योग्य बिछौने थे, उनके ऊपर मोतियृकी मालाआृंकी झालरृ थीं, व ऐसे हासिये थे जो विचित्र कान्तिवाले चमक रहे थे।।३०।।

आभासार्थ : घरकी दीवारृका 'अच्छस्फटिक' श्लोकसे वर्णन करते हैं :

अच्छस्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च।
रत्नप्रदीपा आभान्ति ललनारत्नसंयुताः ।।३१।।

श्लोकार्थ : स्वच्छ स्फटिक मणियृकी और मरकत मणियृकी भीतृमृ रत्नके दीप दैदीप्यमान हो रहे थे तथा स्त्री–रत्न शोभ रहे थे।।३१।।

व्याख्यार्थ : घरकी भींत स्फटिकमणी तथा महा मरकत मणियृसे जड़ी हुई थी, उनमृ सर्वत्र रत्नृके दीप शोभा दे रहे थे, भींतृमृ स्त्रियृकी आकृतियां चित्रित थी तथा रत्नृसे बनाई हुई स्त्रियृकी मूर्तियां खड़ी थीं अथवा रत्नृसे सुशोभित सत्य स्त्रियां वहां घूम रही थी।।३१।।

आभासार्थ : इस प्रकार देखकर ब्राह्मणकी जैसी बुद्धि हुई, जिसका 'तां विलोक्य' श्लोकमृ वर्णन करते हैं :

विलोक्य ब्राह्मणस्तत्र समृद्धीः सर्वसंपदाम्।
तर्कयामास निर्व्यग्रः स्वसमृद्धिमहैतुकीम् ।।३२।।

श्लोकार्थ : ब्राह्मण वहां सर्व प्रकारकी सम्पदाओंकी समृद्धि देखकर, सावधान हो, विचार करने लगा कि कारणके बिना इतनी समृद्धि मेरे पास क्यों?।।३२।।

व्याख्यार्थ : सर्व सम्पदाओंकी समृद्धि देखकर इसके आनेका क्या कारण है? सावधान होके इसका विचार करने लगा, कारण प्रसिद्ध है, विचारकी क्या आवश्यकता है? इस पर कहता है कि मेरे पास समृद्धिके आनेका कोई कारण नहीं है।।३२।।

आभासार्थ : लोकमें प्रसिद्ध हेतुके अभावसे वहां बहुत हेतुओंका पूर्ण विचार कर 'नूनं बतैतन्मम' श्लोकसे निराकरण करता है :

नूनं बतैतद् मम दुर्भगस्य शश्वद् दरिद्रस्य समृद्धिहेतुः।
महाविभूतेरवलोकतोऽन्यो नैवोपपद्येत यदूत्तमस्य।।३३।।

श्लोकार्थ : निश्चयसे मन्द भाग्य और जन्मसे दरिद्री मुझको ऐसी सम्पदा मिलनेका कारण महाविभूतिमान् भगवान्की कृपादृष्टि बिना दूसरा कोई हो नहीं सकता है।।३३।।

व्याख्यार्थ : इस सम्पदाके मिलनेके कारण भगवदिच्छा, अदृष्ट काल, ग्रह अथवा भगवान् ही हो सकते हैं. उनमें भगवान्के सिवाय अन्य कारणोंका बाध हो सकता है इसलिए इसकी प्राप्तिमें देखा जाय, तो भगवान् ही कारण है, जिसका निर्णय कहता है, कि इतनी जो यह सम्पदा प्रत्यक्ष देखी जाती है, वह मुझ अभागेको कैसे मिल सकती है? 'बत' पद हर्ष वाचक हैं, यदि कहो कि कदाचित् भाग्यसे भी सम्पदाकी प्राप्ति हो जाती है, तो इसके उत्तरमें कहता है कि मेरा भाग्य कहां, मैं तो निरन्तर सर्वदा ही दरिद्र हूं, कैसे यकायक ही विशेष सम्पत्तिवान् बन गया, अचानक इस प्रकार भाग्य नहीं बढ़ जाते हैं, अतः महाविभूतिवान् भगवान्की ही कृपादृष्टिके सिवाय दूसरा कोई कारण बन नहीं सकता है. लोकमें या सुना जाता है, कि अचानक लक्ष्मीकी जिस पर दृष्टि पड़ी वह बहुत सम्पतिवान् बन गया जब एक विभूति लक्ष्मीकी दृष्टिसे बहुत सम्पत्ति स्वतः आ जाती है तो लक्ष्मी जैसी अनेक विभूतियां जिनके पास हैं, वैसे प्रभुकी दृष्टि पड़ने पर क्या नहीं हो सकता है? अर्थात् सर्वसिद्धि होनेमें कोई संशय नहीं है, अतः उनकी कृपादृष्टिसे ही यह सम्पदा प्राप्त हुई है, इसमें उपपत्ति(हेतुपूर्वक युक्ति) बताता है कि आप यदूत्तम हैं, आपके ही यदुकुलमें प्राकट्य होनेसे, जो यादव पहले

अत्यन्त साधारण दशावाले थे, वे अब भगवद्दृष्टिसे अतिशय सम्पत्तिमान् हो गये हैं यह देखी हुई उपपत्ति, यदूत्तम है।।३३।।

आभासार्थ : यदि भगवान्ने दी है, तो आपको क्यू नहीं कहा? इससे संदेह है, इस पर 'नन्वब्रुवाणो' श्लोक कहकर संदेह मिटाता है :

नन्वब्रुवाणो दिशतेऽसमक्षं याचिष्णवे भूर्यपि भूरिभोजः ।
पर्जन्यवत्तत्स्वयमीक्षमाणो दाशार्हकाणामृषभः सखा मे ।।३४।।

श्लोकार्थ : दाशार्हो(दाशार्हवंशी)मू श्रेष्ठ कृष्ण मेरा मित्र है. वह बहुत भोजन करनेवाला है. जैसे मेघ स्वयं देखकर जब समझता है कि कृषककी कृषिको जलकी आवश्यक्ता है, तब बिना कहे वर्षा कर देता है, वैसे ही यह मेरा मित्र न कहकर याचकको बिना कहे बहुत दे देता है।।३४।।

व्याख्यार्थ : निश्चयसे, भगवान् ही याचकको देते हैं, किन्तु सामने कहकर नहीं देते हैं इसलिए समक्ष नहीं दिया, इतनी विशेषता है, यदि कहो कि ऐसा दाता स्वरूप कहीं भी नहीं देखा है तो इसका उत्तर यह है, कि जैसे मेघ जब देखता है कि, कृषकाूका मेरे सिवाय अन्य कोई शरण नहीं है यह गर्मीसे पीडित हैं तब उनके सोते हुए ही बिना कुछ उन्हू कहे हुए उनका सारा खेत पानीसे भर देता है, इसी प्रकार भगवान्ने भी वैसे ही मुझे भर दिया, भक्ताूका वह स्वरूप स्वयं ही देख लिया, ठीक है, तो भी आपको जितना चाहिए था उतना ही देता यह तो बहुत दिया है, जिसके उत्तरमू कहा कि आप(भूरिभोज) हैं अर्थात बहुत भोक्ता है अतः स्वल्प कैसे द्गे? थोड़े देनेसे प्रसन्न नही होते हैं, कितने ही स्वयं बहुत भोक्ता होते हुए भी दूसरेको बहुत नहीं देते हैं. जिसके उत्तरमू कहता है, कि दाशार्ह जो यादव विशेष हैं उनमू श्रेष्ठ है. वे सदैव सेवकाूकी समृद्धि ही चाहते हैं अतः अपने सेवक, दाशार्होको सम्पत्तिवान् बना दिए, यदि कहो कि वे उनके सम्बन्धी थे, इसलिए उनको बहुत सम्पत्ति दी, तो मैं भी मित्र होनेसे सम्बन्धी हूं।।३४।।

आभासार्थ : भगवान्के दूसरे गुण भी स्मरण कर, धीर और उदात्त भगवान् ही हैं. अतः इस प्रकार देनेमू वही समर्थ हैं यह निश्चय करता है :

किञ्चित्करोत्युर्वपि यत्स्वदत्तं सुहृत्कृतं फल्गवपि भूरिकारी ।
मयोपनीतं पृथुकैकमुष्टिं प्रत्यग्रहीत्प्रीतियुतो महात्मा ।।३५।।

श्लोकार्थ : भगवान् अपने अधिक दिए हुएको भी स्वल्प मानते हैं और

भक्तके स्वल्पको भी बहुत मान लेते हैं, मेरी लाई हुई चावलॄकी एक मुट्ठीको प्रेमयुक्त होकर स्वयं ग्रहण की, क्यॄकि महात्मा है।।३५।।

व्याख्यार्थ : जो स्वल्प देता है, उसको लज्जा आती है जिससे वह बिना कुछ कहे दे देता है. वैसे प्रकृत विषयमॄ बिना कहे देकर, इतनी बड़ी सम्पदाका भी भगवान् अल्पत्व प्रकट करते हैं. मित्रका किया हुआ अर्थात् मैं जो भूट ले गया तो उसको 'तर्पयत्यङ्ग मां विश्वं'[१] इत्यादि वाक्यॄसे चार मुट्ठी भर थोड़ीसी भूटको भी बहुत मान लिया है, वह 'मयोपनीतं'से प्रकट करता है, भगवान् इन्द्रादिक देवॄ द्वारा अमृतादि भूट लाई गईको भी इस प्रकार नहीं आरोगते हैं जैसे कि मेरी भूटके चावलॄकी एक मुट्ठी आरोगी है. अतः अमृतकी अपेक्षासे भी चावलॄको मान देनेसे, वे भूरि(बहुत) हो गये हैं, उसमॄ भी प्रेम पूर्वक प्राप्त करनेसे व आरोगनेसे परम अपेक्षावाली मेरी भूट सिद्ध कर दिखाई है यॄ तो आप महात्मा कोटि ब्रह्माण्डॄके स्वामी हैं।।३५।।

१.हे अंग! यह भूट मुझे और विश्वको तृप्त करती हैं.

आभासार्थ : इस कारणसे ऐसा भक्तवत्सल कोई भी नहीं है, उनके साथ मेरे सम्बन्ध बहुत ह्यॄ, इस 'तस्यैव मे' श्लोकसे प्रार्थना करता है :

तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्रीदास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात् ।
महानुभावेन गुणालयेन विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्गः ।।३६।।

श्लोकार्थ : मुझे जन्म जन्ममॄ उनकेलिए ही प्रेम और उनसे ही सखाभाव, सौहृद एवं मैत्री तथा उनका ही दास होकर रहूँ और महानुभाव तथा गुणॄके आलय भगवान्मॄ आसक्ति होवे, उनके भक्तॄका सत्संग मिले, यही उनसे प्रार्थना है।।३६।।

व्याख्यार्थ : प्राणीको देह, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण चार प्रकार होते हैं उनमॄसे हृदयका सम्बन्ध सौहार्दसे होता है. सोहार्द होनेसे ही स्मरण, बन सकता है. प्राणका सखा भावसे सम्बन्ध होता है, वह ही जीवके पास जाता है, अतः सखाके पीछे ही जाता है. यदि भगवान् मेरे प्राणॄके सखा बन जावे, तो तब मेरे प्राण उनकी ओर ही जाएंगे, यही तात्पर्य है, इन्द्रियॄका सम्बन्ध मैत्रीसे है, वे इन्द्रियां मैत्रीकी तरह ही बर्ताव करेगी, देहका सम्बन्ध दासपनसे है, अर्थात् दासत्व प्राप्त हुआ भगवान्के साथ देहका सम्बन्ध सर्वदा बना रहेगा, ये चार ही मेरे पहले भगवान्मॄ स्थित हैं, नहीं होते तो भगवान्से मिलाप कैसे हो सकता?

फिर जन्म जन्ममृ वैसा ही रहे यह प्रार्थना है, जहां बिना मांगे भी, इतनी सम्पत्ति दे दी तो वे क्या नहीं दृगे अर्थात् सब कुछ मांगने पर तो दृगे ही, यृ गृहमृ प्रविष्ट हो मांगने लगा.

एक जन्ममृ एक कृष्णसे ये सम्बन्ध हुए तो दूसरे जन्ममृ शिवसे या दूसरे किसीसे हो, वैसी प्रार्थना करो, एककेलिए हो आग्रह क्यृ? यदि यृ कहते हो तो इसका उत्तर यह है, कि वे महानुभाव हैं, जिससे उनके सेवकके सेवकृमृ भी संसारादि धर्म नहीं हैं. और विशेष यह है कि गुणृकी निधि वे ही हैं, उनसे सख्य आदिकेलिए जन्म लेनेकी प्रार्थना करते हो, तो जन्म लेने पर विषयृमृ आसक्ति होगी तो अनर्थ हो जाएगा, इसके उत्तरमृ कहता है, कि अनर्थ न होगा क्यृकि तब भगवद्भक्तृसे संग होगा, उससे विषयादिमृ संग नहीं होगा जिससे अनर्थ करनेवाले संगके दोष स्वतः निवृत्त हो जाएंगे।।३६।।

आभासार्थ : यदि कहो, कि उस जन्ममृ धन राज्य आदि सम्पत्ति होने पर भगवद्भक्तृ से संग नहीं हो सकेगा तो, निस्तार भी नहीं होगा, इसके उत्तरमृ 'भक्ताय चित्रा' श्लोक कहता है :

भक्ताय चित्रा भगवान् हि संपदो राज्यं विभूतीर्न समर्थयत्यजः ।
अदीर्घबोधाय विचक्षणः स्वयं पश्यन्निपातं धनिनां मदोद्भवम् ।।३७।।

श्लोकार्थ : धनी पुरुषृके धनके मदसे नीच जन्म होते देखकर, विचक्षण भगवान् अपने अज्ञानी भक्तृको विचित्र सम्पदा, राज वा विभूतियां नहीं देते हैं, अपितु दृढ़ भक्ति ही देते हैं, मुझमृ तो अब सम्पदाओंके मिल जानेसे वह भक्ति नहीं रही, इसलिए अब भक्ति ही मांगता हूं।।३७।।

व्याख्यार्थ : भगवान् बुद्धिको मोहित करनेवाली विचित्र सम्पदाएं भक्तृके यहां नहीं बढ़ाते हैं, अर्थात् नहीं देते हैं, वैसे ही राज्य विभूतियां और ऐश्वर्य भी नहीं देते हैं. उसमृ कारण यह है, कि आप 'अज' होनेसे स्वयं जन्मा ही नहीं है, यृ कहकर भगवान्मृ षड् विकारृका निराकरण किया है. अतः अपनेलिए सेवकृकी समृद्धि नहीं करते हैं. अपनेलिए नहीं, तो उनकेलिए तो करते हृगे, इस पक्षको भी दूषण देते हैं, कि उनकेलिए भी नहीं करते हैं क्यृकि सम्पदाएं पूर्ण ज्ञानका अभाव करनेवाली हैं, अथवा नाश करनेवाली हैं, अतः सम्पदा होनेसे भक्तृकी दीर्घबुद्धि नहीं होगी. अर्थात् ज्ञानवाली नहीं होगी, यदि हो भी जावे, तो पुनः नष्ट हो जाएगी वह ज्ञान स्थिर नहीं रहेगा, इसलिए भक्तकी सम्पदा नहीं

बढाते हैं. इस विषयमॄ विशेष कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है क्यॄकि स्वयं(खुद) ही विचक्षण हैं. विचक्षण भी कभी भूल जाता है इस पर कहता है, कि ये भूलॄगे नहीं, क्यॄकि धनिकॄकी सम्पदासे मद(अभिमान) बढ़ता है, यह आप देख रहे हैं, इसलिए भूलॄगे नहीं किन्तु सोचॄगे, कि धनियॄके धनसे उत्पन्न मदका पात देखना ही भगवान्का स्मारक बनता है।।३७।।

आभासार्थ : इस प्रकार भगवान् मेरा सखा आदि बना रहे, यह निश्चय कर उन प्रभुके ही परायण हो, त्यागकेलिए विषयॄका उपभोग करने लगे :

इत्थं व्यवसितो बुद्ध्या भक्तोऽतीव जनार्दने।
विषयान् जायया त्यक्ष्यन् बुभुजेऽनतिलम्पटः ।।३८।।

श्लोकार्थ : भगवान्का परमभक्त सुदामा इस प्रकार बुद्धिसे निश्चय कर विषयॄका 'शनैः शनैः' त्याग करता हुआ अति आसक्त न होकर स्त्रीके साथ विषयॄका उपभोग करने लगा।।३८।।

व्याख्यार्थ : इसी तरह बुद्धिसे निश्चय कर, स्वयं जनार्दनका भक्त बनकर, उसमॄ ही भक्ति स्थिर कर, स्त्रीके साथ कुछ लम्पट सा बनकर विषयॄको भोगने लगा, यदि स्वल्प भी लंपट न बने तो रसका अविर्भाव न होवे. मनमॄ तो यह भावना थी, कि ये सर्वसम्पदाएं इस स्त्रीके कारण ही प्राप्त हुई हैं, अतः कुछ काल तक इसका मनोरथ पूर्ण कर, बादमॄ विषयॄका त्याग ही करूंगा।।३८।।

आभासार्थ : इस प्रकार उसका चरित्र कहकर भगवान्का यह ब्रह्मण्यत्व गुण कहा, यह ज्ञापन करनेकेलिए 'तस्य वै' श्लोकसे स्तुति की जाती है :

तस्य वै देवदेवस्य हरेर्यज्ञपतेः प्रभोः।
ब्राह्मणाः प्रभवो दैवं न तेभ्यो विद्यते परम् ।।३९।।

श्लोकार्थ : देवॄके देव, यज्ञके पति, भक्त दुःखहर्ता, प्रभाववान् भगवान्के प्रभु और देव, ब्राह्मण ही है, उनकी आज्ञाका पालन स्वयं करते हैं और इनकी पूजा भी करते हैं, अतः इनसे विशेष अन्य कोई भी नहीं है।।३९।।

पूज्यो दुःखप्रवर्ता च कर्माध्यक्षः प्रभुस्तथा।
चतुर्विधो महान् लोके तादृशोपि द्विजप्रियः ।।का.१।।

श्लोकार्थ : भगवान् लोकमॄ पूज्य दुःखॄको मिटानेवाले, कर्मोंके अध्यक्ष तथा सर्व समर्थ है, इस प्रकार चार तरहसे महान् होते हुए भी द्विजप्रिय हैं अर्थात् सबसे विशेष ब्राह्मण उनको प्यारे हैं.

व्याख्यार्थ : उस प्रसिद्ध देवॄके देव सर्वदुःखहर्ता, यज्ञभोक्ता और नियन्ताके ब्राह्मण, प्रभु हैं और देव हैं, उनकी आज्ञा मानते हैं और उनकी पूजा भी करते हैं, और विशेषता यह है कि भगवान्‌के विचारमॄ ब्राह्मणॄसे उत्तम अन्य कोई नहीं है, इससे उनका आदर दाक्षिण्यके कारण करते हैं इस पक्षका निराकरण किया।।३९।।

शुद्धास्त एव वक्तारो माहात्म्योक्तौ विचक्षणाः।
निःस्पृहा ज्ञानसंयुक्ता मोक्षयोग्या हरिप्रियाः।।का.२।।

श्लोकार्थ : जो निःस्पृह हैं, ज्ञानवान हैं, माहात्म्य कहनेमॄ चतुर हैं, वे ही शुद्ध वक्ता हरिके प्रिय मोक्ष पानेके योग्य हैं.

आभासार्थ : इस प्रकार भगवान्‌मॄ ब्रह्मण्यत्व गुण हैं इसकी स्थापना कर पश्चात् सुदामाका क्या हुआ? इस आकांक्षामॄ 'एवं स' श्लोक कहते हैं :

एवं स विप्रो भगवान् सुहृत्तदा दृष्ट्वा स्वभक्तैरजितं पराजितम्।
तद्ध्यानवेगोद्ग्रथितात्मबन्धनस्तद्धाम लेभेऽचिरतः सतां गतिम् ।।४०।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार भगवान्‌का भक्त सुदामा भगवान्‌को अजित मानता है तो भी भक्तॄसे पराजित अर्थात् उनके वश समझकर, इनके ध्यानके वेगसे आत्माके बन्धनको तोड़कर भगवान्‌के धामको और सत्पुरुषॄकी गतिरूप भगवान्‌को स्वल्प समयमॄ ही प्राप्त हो गया।।४०।।

व्याख्यार्थ : श्लोकमॄ सुदामाको भगवान् और भगवान्‌का सुहृद कहा है, सुहृद तो ठीक किन्तु भगवान् कैसे कहा? इस शंकाका आचार्यश्री निवारण करते हैं, कि सुदामामॄ भगवान्‌का आवेश हो जानेसे भगवान् कहा है. अथवा भगवत्सुहृत् पाठ समझा जावे, जिसका स्पष्ट अर्थ होगा भगवान्‌का मित्र, यद्यपि भगवान्‌को कोई भी जीतकर अपना आज्ञाकारी नहीं बना सकता है, किन्तु भक्तॄसे पराजित होकर भक्तॄके ही केवल वश हो जाते है अन्य किसीके भी वश नहीं होते हैं. जब सर्वके ईश्वर वशमॄ आ गए तो सर्व पुरुषार्थ हाथमॄ आ गए, उनके ध्यान वेगसे ही उस ब्राह्मणके सकल अविद्याके बन्धन टूट गए. यॄ होने पर भगवान्‌के चिन्तन आदिसे उनका धाम प्राप्त कर लिया अर्थात् वैकुण्ठको प्राप्त कर लिया, पश्चात् शीघ्र ही सत्पुरुषॄकी गति भगवान्‌को भी, अनन्तर सायुज्यको प्राप्त कर लिया।।४०।।

आभासार्थ : इसी तरह सुदामाका उद्धार कहकर, उसकी कीर्ति लोकमॄ

सदैव रहेगी, इसलिए उसके चरित्र श्रवणका फल 'एतद्ब्रह्मण्यदेवस्य' श्लोकमृ कहते हैं :

एतद्ब्रह्मण्यदेवस्य श्रुत्वा ब्रह्मण्यतां नरः ।
लब्धभावो भगवति कर्मबन्धाद् विमुच्यते ।।४१।।

श्लोकार्थ : मनुष्य ब्रह्मण्यदेवकी यह ब्रह्मण्यता सुनकर भगवान्मृ भाव प्राप्त कर कर्म बन्धनसे छूट जाता है।।४१।।

व्याख्यार्थ : 'एतत्' शब्द अव्यय है, इस ब्रह्मण्यताको सुनकर मनुष्य भगवान्मृ भाव प्राप्त करता है. मनुष्यामृकी इस लोकमृ जो दृढ़ दृष्टि होती है वह भगवान् करते हैं, यामृ भगवद्भाव दृढ़ होता है. भगवद्भाव दृढ़ होनेसे मनुष्य कर्मबन्धनसे छूट जाता है. जहां इस चरित्रके सुननेवालेका भी मोक्ष हो जाता है, वहां सुदामाके मोक्षमृ कौनसा संदेह? इस प्रकार भोग और मोक्ष देनेवाले कोई नहीं, भगवान् ही हैं और अन्य फल भी भगवान् ही देते हैं इस प्रकार निरुद्धामृका फलदाता भगवान् ही है यह निरूपण किया।।४१।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कंधके ७८वृ अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी(संस्कृत–टीका)के सात्त्विक फल
अवान्तर प्रकरणके चतुर्थ अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण

अध्याय ७९

भगवान् श्रीकृष्ण व बलरामसे गोप–गोपियोंकी भेंट

सात्त्विकप्रक्रियायां तु षड्भिः षड्भिस्त्रयं जगौ ।
प्रमेयसाधनफलं धर्मास्तत्र निरूपिताः ।।का.१।।
धर्मिणोऽत्र त्रयो वाच्यास्तत्राध्यायत्रयं मतम् ।
सात्त्विके तु प्रमेये हि धर्मी यादृग्विधो मतः ।।का.२।।
त्रयस्त्रिंशे तथाध्याये प्रथमं स निरूप्यते ।
सर्वाभिष्टः सर्वसाक्षी सर्वप्रियहितैषणः ।।का.३।।
तीर्थैकगम्यो ज्ञानात्मा गुरुर्मोक्षप्रदः परः ।
सात्त्विकानामेकमेव साधनं गुणवर्णनम् ।।का.४।।

कारिकार्थ : सात्त्विक प्रकरणमें धर्मरूप प्रमेय, साधन और फल छः–छः अध्यायोंसे निरूपण किये, अब तीन अध्यायोंसे साथमें ही धर्मीरूप प्रमेय, साधन और फल का निरूपण करते हैं. सात्त्विक 'प्रमेय'में जैसा धर्मी माना गया है, पहले वह इस उत्तरार्धके तैतीसवें अध्यायमें कहते हैं. धर्मी वह है, जो सर्वको अभीष्ट हो, सबका साक्षी हो, सबका प्रिय हो और सबका हित करनेवाला हो, वैसा धर्मी तीर्थ पर ही प्राप्त हो सकता है, जो ज्ञानसे पूर्ण हो और मोक्षदाता तथा 'पर' हो. वैसे धर्मीकी प्राप्तिका साधन एक ही गुणगान है।।१–४।।

सरसस्य श्रुतिश्चापि तदग्रे विनिरूपितम् ।
ततः फलात्मा स हरिः सर्वाभीष्टप्रपूरकः ।।का.५।।
देशकालौ तथा चाङ्गं ततस्तत्रैव तत्त्रयम् ।
तामसा राजसाः प्रोक्ता राजसाश्चैव सात्त्विकाः ।।का.६।।
ततोऽध्याये प्रमेयेऽत्र सर्वे सात्त्विकतां गताः ।
प्रमेयमेतदेवात्र यदा सर्वेऽत्र सात्त्विकाः ।।का.७।।
तदा प्रमेयो भगवान्नान्यथेत्युच्यते स्फुटः ।

कारिकार्थ : इसके अनन्तर आनेवाले अध्यायमें रस सहित चरित्रका एवं रूपका निरूपण होगा, उसका ही श्रवण और कीर्तन करना साधन है. इसके बाद फलात्मा, सबका अभीष्ट करनेवाले[१] हरिका निरूपण किया गया है. इस कारणसे इसी अध्यायमें देश[२], काल[३] और अंग[४] इन तीनोंका वर्णन है. इस प्रमेयरूप प्रभुके

वर्णनसे तामससे राजस, राजससे सात्त्विक बन गए. इसी प्रकार जब सब सात्त्विक हुए, तब यह निश्चय है कि यह ही प्रमेय स्वरूप भगवान् स्फुट कहा है अन्यथा नहीं।।५-७ १/२।।

१.जिसको सब चाहते हो. २. यज्ञ करनेसे वह पवित्र देश है. ३.ऋत्विजाृको दान देनेसे दानका काल है. ४. यज्ञरूप क्रियाशक्ति भी वहां है, क्याृकि 'मखैः' यज्ञसे वह शक्ति वहां रही है.

अब तीन अध्यायाृसे भगवत्साक्षात्कारका वर्णन होता है. प्रथम भगवदीयाृका साधन तथा उनका फल, क्रमसे कहते हैं, सबसे उत्कृष्ट सात्त्विकाृको भी ग्रहणादि उत्तम कालवाले कुरुक्षेत्र आदिमृ ही भगवान्के दर्शन होते हैं, दूसरे स्थान पर नहीं, याृ निरूपण किया जाता है.

आभासार्थ : इसलिए ही प्रथम कुरुक्षेत्रकी यात्राका प्रसंग कहते हैं. मथुरा, द्वारका भी तीर्थ है फिर कुरुक्षेत्र क्याृ गए जिसके उत्तरमृ आचार्यश्री आज्ञा करते हैं, कि यदि तीर्थ अपना गृह हो गया हो, तो वह तीर्थ फल नहीं देता है. इसलिए सब मथुरा और द्वारका अपना गृह छोड़ कुरुक्षेत्र गए. कालकी प्राधान्यता होनेसे प्रथम श्रीशुकदेवजी 'अथैकदा' श्लोकमृ सूर्यग्रहणका वर्णन करते हैं :

श्रीशुक उवाच

अथैकदा द्वारकायां वसतो रामकृष्णयोः।

सूर्योपरागः सुमहानासीत्कल्पक्षये यथा ।।१।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि श्रीकृष्ण और बलदेवजी जब विराजते थे, तब एक दिन प्रलयकालमृ जैसे हो, वैसा बड़ा भारी सूर्यग्रहण हुआ।।१।।

व्याख्यार्थ : राहुसे ग्रस्त सूर्यसे विशेष दूसरा कोई मुख्यकाल नहीं हैं, और वह काल सर्वका नाश करनेवाला है. याृ भगवान्के विद्यमान होते हुए कदाचित् न भी होवे, किन्तु भगवान् श्री राम कृष्ण दोनाृके द्वारकामृ विराजमान होते हुए भी हुआ वह सूर्यग्रहण साधारण नहीं हुआ, किन्तु जैसे कल्पके क्षयका कारण एवं उसकी सूचना करनेवाला, सर्व ग्रासात्मक सूर्यग्रहण हुआ. भगवान्के विराजते हुए वैसा सूर्यग्रहण क्याृ हुआ? जिसके उत्तरमृ कहते हैं कि यह ग्रहण सूचना करता है, कि अभी पृथ्वी पर जो बोझ बढा है वह नष्ट होगा।।१।।

आभासार्थ : पश्चात् क्या हुआ? इसलिए 'तं ज्ञात्वा' श्लोक कहते हैं :

तं ज्ञात्वा मनुजा राजन् पुरस्तादेव सर्वतः।

स्यमन्तपञ्चकं क्षेत्रं ययुः श्रेयोविधित्सया ।।२।।

श्लोकार्थ : हे राजन्! ज्योतिषियॉ द्वारा सूर्यग्रहण होगा, वैसा जानकर पहले ही श्रेयकी अभिलाषासे सब स्थानॉसे सब कुरुक्षेत्र जाने लगे।।२।।

व्याख्यार्थ : ज्योतिषशास्त्र ही बताता है, कि ग्रहण होगा अतः यह शास्त्र ही इस विषयमॉ प्रमाण है, इसलिए जनता ज्योतिषियॉसे यह सुनकर कि माघ मासमॉ वैसा ग्रहण होगा, कुरुके बनाए हुए देशॉमॉ मुख्य स्यमन्त पञ्चक कुरुक्षेत्रमॉ जानेसे निश्चय श्रेय होगा यह निश्चय कर वहां आए।।२।।

आभासार्थ : वहां ही कल्याण सम्पादन करॅगे, वैसा निश्चय क्यॉ? इसके उत्तरमॉ 'निःक्षत्रियां' श्लोक कहते हैं :

निःक्षत्रियां महीं कुर्वन् रामः शस्त्रभृतां वरः ।
नृपाणां रुधिरौघेण यत्र चक्रे महाह्रदान् ।।३।।

श्लोकार्थ : शस्त्रधारियॉमॉ श्रेष्ठ परशुरामजीने निःक्षत्रिय पृथ्वीको बनानेकेलिए राजाओंके लोहूके समूहसे जहां बड़े बड़े ह्रद(कुण्ड) बनाए थे।।३।।

व्याख्यार्थ : पूर्व समयमॉ श्री परशुरामजीने यह संकल्प किया था कि सब क्षत्रियोंका नाश करूंगा, यह उनका संकल्प सुनकर सब क्षत्रियोंने विचार किया कि वह सबको मारेगा तो युद्धमॉ मरे हुए कहां मोक्ष पाते हैं? कुरुने जो महान् कष्टसे धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्र बनाया है वहां ही मरनेसे मोक्ष प्राप्ति होगी, क्योंकि गंगाजीकेलिए भी कहा है कि 'कुरुक्षेत्र समा गङ्गा' गंगा कुरुक्षेत्रके समान है. यों विचारपूर्वक निश्चय कर परशुरामजीने जो समय क्षत्रियोंके नाशका निश्चित् किया था, उस समय सब क्षत्रिय वहां आ गए, पश्चात् रामजीने आए हुए सब क्षत्रियोंको मार डाला, उनके लोहूके समूहसे नव ह्रद(सरोवर) बनाए, वे नव ही गंगासे भी अधिक तीर्थ बने, इससे इस स्थानका उत्कर्ष बताया. परशुरामजी शस्त्रधारियॉमॉ श्रेष्ठ थे और अपने धर्ममॉ पूर्ण निष्ठा थी जिससे उनको देशका पूर्ण ज्ञान[१] था यों निरूपण किया।।३।।

१.यह ज्ञान था कि यहां वध करनेसे मारनेका दोष नहीं लगेगा, इसलिए उन राजाओंको यहां वध किया .

आभासार्थ : यों करनेसे केवल क्षत्रियोंका ही उत्कर्ष नहीं बताया, किन्तु अपना महत्त्व भी दिखा दिया, यह 'ईजे च' श्लोकमॉ कहते हैं :

ईजे च भगवान् रामो यत्रास्पृष्टोऽपि कर्मणा ।

लोकं संग्राहयन्नीशो यथान्योऽघापनुत्तये ।।४।।

श्लोकार्थ : भगवान् परशुरामजीको वधके पापका स्पर्श मात्र भी न था, तो भी उन्हूने लोकके शिक्षार्थ प्राकृत पुरुषूके समान पाप निवृत्तिकेलिए यज्ञ किये।।४।।

व्याख्यार्थ : परशुरामजीने, वधका प्रायश्चित्त करनेकेलिए वहां ही यज्ञ किए, प्रायश्चित्त तब किया जाता है, जब पापका सम्बन्ध होवे, यदि पापका सम्बन्ध माना जाएगा, तो उस क्षेत्रमू भी पाप लगता है यह सिद्ध होगा इस शंकाको मिटानेकेलिए कहते हैं कि 'यत्रास्पृष्टोऽपि कर्मणा' वधके कर्मसे उत्पन्न पापूसे सम्बन्ध न होने पर भी यज्ञ किए. एक तो स्वयं भगवान् थे, इसलिए आपको पाप स्पर्श नहीं कर सकते हैं तथा देशके माहात्म्यके कारणसे भी पाप नहीं करते हैं. यह जतानेकेलिए(यत्र) पद दिया हैं. नहीं तो चकारसे भी पूर्वका स्थान आ जाता है. तब यज्ञ क्यू किए? जिसके उत्तरमू कहते हैं कि 'लोक संग्राहयन' लोककी मर्यादाकी शिक्षा देनेकेलिए यज्ञ किए, यू क्यू शिक्षा दी? तो कहते हैं कि आप लोकके स्वामी हैं आपका कर्तव्य हैं शिक्षा देना, इसलिए यज्ञ किए. यदि ईश हैं तो उनको यज्ञ करनेका अधिकार नहीं है फिर क्यू किए? इस पर कहते हैं कि जैसे दूसरे लौकिक करते हैं, वैसे ही उस मर्यादाकी रक्षाकेलिए तथा शिक्षणार्थं किए. यज्ञूका फल स्वर्गादि मिले इसलिए नहीं, किन्तु केवल पाप निवृत्तिकेलिए लोक करू इस वास्ते ही किए।।४।।

आभासार्थः इस प्रकार देश, कालका माहात्म्य कहकर 'महत्यां' श्लोकसे सबका आगमन कहते हैं :

महत्यां तीर्थयात्रायां तत्रागन्भारतीः प्रजाः ।

वृष्णयश्च तथाऽक्रूरवसुदेवाहुकादयः ।।५।।

श्लोकार्थ : इस बड़ी तीर्थयात्रामू भरत खण्डकी सब प्रजा आई, अक्रूर, वसुदेव और आहुक आदि यादव भी आए।।५।।

व्याख्यार्थ : जब तीर्थ पर जानेकेलिए ऐसा(सूर्यग्रहणादि) निमित्त होता है तब महती यात्रा होती है, क्यूकि उसका महत्त्व होता है. जिसकेलिए कहते हैं कि एक तो वहां सब स्थानूसे प्रायः बहुत आते हैं और उस कालमू जानेसे फल अधिक प्राप्त होता है. इस कारणसे ही भारतवर्षमू उत्पन्न सर्व प्रजा वहां आई, वहां आए हुएमूसे संक्षेपमू मुख्य नाम कहते हैं. प्रथम यादव आए उनमूसे भी मुख्य

जो आये उनका नाम कहते हैं, अक्रूर, वसुदेव और आहुक आदि आए, ये सात्त्विक महान् और राजा कहे।।५।।

आभासार्थ : उनका दूसरे स्थान पर जानेका निवारण करनेकेलिए कहते हैं कि 'ययुस्ते भारतं क्षेत्रं' वे भारत क्षेत्रमॄ गए :

ययुस्ते भारतं क्षेत्रं स्वमघं क्षपयिष्णवः।
गदप्रद्युम्नसाम्बाश्च सुचन्द्रशुकसारणैः ।।६।।

श्लोकार्थ : अपने पापॉको मिटानेकेलिए सुचन्द्र, शुक और सारणके साथ गद, प्रद्युम्न तथा साम्ब भी उस भारत क्षेत्र(कुरुक्षेत्र)मॄ गए।।६।।

व्याख्यार्थ : भरतवंशमॄ उत्पन्न कुरुने जो क्षेत्र बनाया है वहां ही पाप नष्ट ह्यॄगे, यदि यादव यॄ मान ले कि हमारेलिए अपना गृह ही सर्व कल्याण करनेवाले हैं तो भगवान्की अवज्ञारूप पाप लगेगा, इसलिए उस पापका मिटाना दूसरे स्थान पर नहीं होगा, अतः अपने असाधारण पापको नष्ट करनेकी इच्छावाले वहां आए यॄ कहा. तीन प्रकारके ही आए इस शंकाको मिटानेकेलिये दूसरॄकी भी गणना करते हैं कि गद, प्रधुम्न और साम्ब भी आए।।६।।

आभासार्थ : सब ही आ गए तो द्वारकामॄ कौन रहा? जिसके उत्तरमॄ 'आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायां' श्लोक कहते हैं :

आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायां कृतवर्मा च यूथपः।
ते रथैर्देवधिष्ण्याभैर्हयैश्च तरलप्लवैः ।।७।।

श्लोकार्थ : द्वारकाकी रक्षाकेलिए अनिरुद्ध और उसका सेनापति कृतवर्मा वहां रहा, जो यादव वहां कुरुक्षेत्र गए, वे कैसे गए? जिसका वर्णन करते हैं कि वे देवताआॄके विमानके समान चमकनेवाले रथॄसे तरंगॄके समान चंचल घोड़ोसे गए।।७।।

व्याख्यार्थ : अनिरुद्ध योगपति हैं, इसलिए योगाभ्यासके परायण होनेका वहां न आना कहा तथा उनका सेनापति भी नहीं आया क्यॄकि वह उनका उत्तरदायी हैं अत: वह भी न आ सके. यद्यपि यह पात्र सर्व साधारण हैं तो भी भगवान्का चरित्र ही प्रकरणका विषय है अत: मुख्य रूपसे यादवॄका वर्णन किया जाता है. जो भी आये वे यात्राके नियमॄका पालन करते हुए आए अथवा केवल शोभाकेलिए आए? इस प्रकारका सन्देह होने पर निरूपण करते हैं कि, वे देवताआॄके विमानॄके समान सुशोभित रथॄसे आए, यद्यपि तीर्थों पर जानेका

नियम है कि साधु वेषमॄ जाना चाहिए, देश मात्रका प्राधान्य जिस यात्रामॄ हो उसकेलिए यह नियम है, अर्थात् जब यात्री विचारसे जावे कि चलो गंगा आदि पवित्र स्थानॄ पर चलॄ, तब नियमका पालन करना चाहिए, जब कालकी प्रधानता हो तब वह नियम नहीं, अर्थात् जब कोई विशेष काल जैसे कुरुक्षेत्र आदिमॄ सूर्यग्रहण आदि काल पर जाना पड़े तो नियमकी आवश्यकता नहीं है. वैसे तीर्थों पर विशेष उत्सव बड़े त्यॄहारॄ पर जानेका अवसर हो, तो साधु वेष आदि नियम नहीं है अतः यादवादि जो इस काल विशेष पर आए, वे महती चतुरङ्गिणी सेना सहित आते हुए शोभा पाने लगे. इससे रक्षा और शोभा विषयका निरूपण किया जाता है. रथ आदि वाहनरूप थे यॄ कोई कहते हैं विमान समान रथ थे अथवा जगन्नाथ आदि देव स्थान यात्रा निमित्त देवासन रथॄके सदृश रथ थे, अनेक अलंकरणॄसे युक्त होनेसे वे शोभित थे इसका अग्रिम श्लोकसे सम्बन्ध है. वे गद आदि और सब ही लोक तथा घोड़े भी तरंगॄके समान चंचल चालवाले थे, घोड़ॄका काल ही गुण है।।७।।

गजैर्नदद्भिरभ्राभैर् नृभिर्विद्याधरद्युभिः ।
व्यरोचन्त महातेजाः पथि काञ्चनमालिनः ।।८।।

श्लोकार्थ : बादलके समान गर्जना करते हुए हाथी और विद्याधरॄके समान कांतिवाले तेजस्वी पुरुषॄको साथ ले चलते हुए सुवर्णकी मालाओॄको धारण किये हुए यादव मार्गमॄ शोभते थे।।८।।

व्याख्यार्थ : हाथी बादलके समान ऊंची गर्जना कर अपना अन्तःसन्तोष अथवा अपनी मदोन्मत्तता प्रकट करते थे. विद्याधरॄके समान कान्तिवाले, प्यादे अथवा डोली उठानेवाले साथमॄ थे. वे अनेक विद्याओंसे अपने अनेक रूप प्रदर्शित करते थे और अलंकृत थे. हर एक क्षणमॄ नवीन रूप धारण करते थे, यह जतानेकेलिए विद्याधरॄ जैसी कान्ति कही है. स्वयं भी महान् तेजस्वी थे. 'महातेजाः' यह शब्द समासान्त होनेके कारण व्याकरणानुसार अकारान्त हुआ है. इससे इनका सहज उत्कर्ष कहा गया है. आए हुए जनॄके अलंकृत होनेका वर्णन करते हैं कि उन्होॄने गलेमॄ सुवर्णकी मालाएं पहनी थी, मार्गमॄ भी उतारी नहीं थी, कारण कि देशमॄ सर्व प्रकारकी स्वस्थता थी, सबके चित्त शुद्ध थे अर्थात् मार्गमॄ डाकू आदि लूटते नहीं थे जिससे वे सुवर्ण आभुषण धारण कर निर्भय आ रहे थे. यदि स्वस्थता और चित्त शुद्ध न हो तो आभुषण पहन चारॄ तरफसे निर्भय

नहीं आ सकते थे।।८।।

आभासार्थ : आगे 'दिव्यस्रग्वस्त्रसंवाहाः' श्लोकमृ वर्णन करते हैं :

दिव्यस्रग्वस्त्रसंवाहाः कलत्रैः खेचरा इव।
तत्र स्नात्वा महाभागा उपोष्य सुसमाहिताः ।।९।।

श्लोकार्थ : दिव्य वस्त्र, माला व कवच पहने हुए अपनी स्त्रियाृके साथ पंथमृ जाते हुए देवाृके समान शोभा पा रहे थे, महाभाग्यशालीयाृने वहां उपवास किया और स्नान कर समस्त विषयादि दोषाृका त्याग किया।।९।।

व्याख्यार्थ : दिव्य कहते हैं अलौकिक जो लोकमृ आश्चर्यजनक ह्रा ऐसे वस्त्र, घोड्र. यदि 'संनाहा' ऐसा पाठ हो तो उसका अर्थ है कवच आदि. वे सब स्त्रियाृको साथ लेकर गये थे. प्रवृत्तिमृ स्त्रियाृके साथ ही अधिकार होता है अथवा स्त्रियाृको साथ इसलिए ले गये थे कि हमारा इससे महत्व माना जायगा. स्त्रियाृकी अधिकता एवं शोभातिशयको जतानेकेलिए 'खेचरा एव' दृष्टांत दिया है, जैसे सिद्ध अथवा विद्याधर अपनी स्त्रियाृके साथ ही आकाशमृ विचरण करते हैं. इस प्रकार सबके आगमनको कहकर अमावस्यामृ ग्रहणके दिन जितनाृका आगमन संभव था उसे कहकर बादमृ स्नानादिक किया यह 'तत्र स्नात्वा' पदसे बताया है. जो ग्रहणके दिन तीर्थ पर आए तथा जिन्हाृने दान आदि दिया वे बडे भाग्यवान् थे, यह 'महाभागा' इस पदसे निरूपित हुआ. ग्रस्तास्त सूर्यग्रहण होनेसे उस दिन सबने उपवास किया. तीर्थमृ आये हैं इसलिए उपवास नहीं किया था क्याृकि कुरुक्षेत्रमृ उपवास करनेका निषेध है. 'सुसमाहिता' यह पद इस बातको बताता है कि उन्होंने सब भोगाृका एवं क्रोधादि सब दोषाृका परित्याग कर दिया था।।९।।

ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धेनूर्वासःस्रग्रुक्ममालिनीः।
रामह्रदेषु विधिवत्पुनराप्लुत्य वृष्णयः ।।१०।।

श्लोकार्थ : पश्चात् ग्रहणके समय ब्राह्मणाृको वस्त्र, पुष्प-माला और कंचनकी मालावाली गायृ दानमृ दीं, फिर यादवाृने कुरुक्षेत्रमृ बने हुए राम ह्रदाृ(सरोवराृ)मृ विधिवत् स्नान किया।।१०।।

व्याख्यार्थ : ग्रहणके समय ब्राह्मणाृको वस्त्र पुष्पमाला और सुवर्णकी मालाआृसे युक्त गाय दानमृ दीं, वहां एक मुख्य सरोवर और दूसरे नव ह्रद हैं. 'शोणितौघान् ह्रदान्नव' इस प्रमाणसे नव ह्रद राम ह्रद कहलाते हैं, ये नव ह्रद फलको सिद्ध करनेवाले हैं अतः इनमृ विधिवत् स्नान किया।।१०।।

ददुः स्वर्णं द्विजाग्र्येभ्य कृष्णे नो भक्तिरस्त्विति।
स्वयं च तदनुज्ञाता वृष्णयः कृष्णदेवताः ।।११।।

श्लोकार्थ : हमारी श्रीकृष्णमृ दृढ़ भक्ति हो, इसलिए ब्राह्मणृको स्वर्णका दान दिया, कृष्ण ही जिनका देव है ऐसे यादव ब्राह्मणृकी आज्ञा लेकर भोजन करने लगे और स्वयं श्रीकृष्ण भी भोजन करने लगे-निम्न श्लोकसे सम्बन्ध है।।११।।

व्याख्यार्थ : स्नानकी सफलताकेलिए उत्तम ब्राह्मणृको स्नानके बाद भी सुवर्णका दान दिया, स्नानके अनन्तर यदि ब्राह्मणृको दान न दिया जाय तो स्नान निष्फल हो जाता है अर्थात् स्नानका फल नहीं मिलता है. यादवृको जो मनमृ कामना थी वह बताते हैं इस स्नानका फल हमको यह मिले कि श्री कृष्णमृ हमारी दृढ भक्ति बनी रहे, तीर्थ पर आने और वहां सुवर्ण दान दोनृका फल, सर्व प्रकारकी कामनाओृको पूर्ण करता है, अतः यादवृकी यह श्रीकृष्ण भक्तिकी कामना इससे पूर्ण हुई. कोई कहते हैं कि यह स्नान दूसरे दिन किया. श्लोक १०के मूलमृ 'पुनः' पद है जिसका आशय है कि दूसरे दिन भी दान किया अनन्तर कृष्ण ही जिनका देवता है ऐसे यादवृने ब्राह्मणृकी आज्ञा लेकर कृष्णका पूजन कर उनके भोजनके बाद भोजन किया. नीचेके श्लोकसे सम्बन्ध है।।११।।

भुक्त्वोपविविशुः कामं स्निग्धच्छायाङ्घ्रिपाङ्घ्रिषु।
तत्रागतांस्ते ददृशुः सुहृत्संबन्धिनोऽपरान् ।।१२।।

श्लोकार्थ : श्रीकृष्णको ही इष्ट देव माननेवाले यादवृने ब्राह्मणृकी आज्ञा ले, भोजन कर, फिर वे शीतल छायावाले वृक्षृकी छायामृ इच्छानुसार बैठ गए. वहां उन्हृने आए हुए सुहृत्, सम्बन्धी और दूसरृको देखा।।१२।।

व्याख्यार्थ : वहां तीर्थ पर श्री कृष्णका पूजन कर भोजनकेलिए विराजमान हुए भगवान्के भोजन कर लेनेके बाद भगवान्की आज्ञा प्राप्त कर यादवृने भोजन किया, अनन्तर शीतल छायावाले वृक्षृकी छायामृ बैठ गए. इतने समय तक तीर्थ कार्यकी व्यग्रतासे लोगृको देखनेका अवसर(मोका) न मिला पश्चात् यादव स्वयं दूसरे स्थान पर न गए क्यृकि भगवान् वहां विराजते हैं इनको छोड़ कैसे जावे? अतः यहां ही आए हुए सबको देखा, जिनको देखा उनका वर्णन करते हैं. मित्र सम्बन्धी जिनसे विवाहका सम्बन्ध बना रहता है और अन्य जिनसे कोई विशेष सम्बन्ध, मित्रता वा पहिचान नहीं ऐसे जो उदासीन दर्शनार्थ आए हुए

थे उनको देखा अथवा अन्य राजाओंको देखा।।१२।।

आभासार्थ : वे अनेक देशोंके रहनेवाले थे जिनका वर्णन 'मत्स्योशीनर' श्लोकमें कहते हैं :

मत्स्योशीनरकौसल्यविदर्भकुरुसृञ्जयान्।
काम्बोजकैकयान्मद्रान्कुन्तीन्नारदकेरलान् ।।१३।।
अन्यांश्चैवात्मपक्षीयान्परांश्च शतशो नृप।
नन्दादीन्सुहृदो गोपान्गोपीश्चोत्कण्ठिताश्चरम् ।।१४।।

श्लोकार्थ : मत्स्य, उशीनर, कौसल्य, विदर्भ, कुरु, सृञ्जय, काम्बोज, केकय, कुन्तल, कांकण, केरल देशोंके और अन्य अपने पक्षके तथा दूसरे सैकड़ों राजा लोग जो भी आए थे उन सबको भगवान्‌के यहां ही देखा, अपने सुहृद नन्दरायजी आदि तथा गोप एवं गोपियोंको देखा जो नन्द गोप और गोपियां बहुत समयसे भगवान्‌के दर्शनकी उत्कण्ठा कर रही थी।।१३-१४।।

व्याख्यार्थ : नारद देशको अब कौंकण देश कहते है. दूसरे ११ तो जो कहे हैं वे प्रसिद्ध हैं, प्रत्येकके मनकी वृत्तिके प्रकट करनेकेलिए देशोंके पृथक् पृथक् नाम समास कर दिए हैं, जो समासान्त पदमें नहीं आए हैं उनको 'अन्याश्चैवेति' पदसे कहा है जो अपने पक्षवाले ही थे. 'परान्' पदसे शत्रु पक्षवालोंको सूचित किया है वे 'शतश' थे अर्थात् शत्रु पक्षके बहुत आए थे वे भी देखनेकेलिए आये थे इस प्रकार भगवान्‌का अचिन्तनीय सामर्थ्य प्रगट किया है, ये सब सजातीय क्षत्रिय ही निरूपण किए. अब विजातियोंका निरूपण करते हुए प्रथम नन्द आदिको देखा, उत्कण्ठावाले गोप तथा गोपियोंको देखा, उनकी उत्कण्ठा भगवद्दर्शन सम्बन्धी थी एवं सम्बन्धीसे पूर्ण सर्व भगवदीयोंके देखनेकी उत्कंठा थी, यह सब भगवान्‌का विलास ही है इसलिए गोप गोपियोंको देखनेकी उत्कण्ठा हुई. 'चिर' विशेषणसे यह बताया कि यह उत्कण्ठा बहुत दिनोंसे इनको थी।।१३-१४।।

आभासार्थ : बादमें उनका आपसमें सम्भाषण लौकिक भाषासे हुआ जिसका निरूपण 'अन्योन्य' श्लोकमें करते हैं.

अन्योन्यसंदर्शनहर्षरंहसा प्रोत्फुल्लहृद्वक्त्रसरोरुहश्रियः ।
आश्लिष्य गाढ नयनैः स्रवज्जला हृष्यत्त्वचो रुद्धगिरो ययुर्मुदम् ।।१५।।

श्लोकार्थ : परस्पर दर्शन होनेसे उत्पन्न अतिशय हर्षके वेगसे प्रफुल्लित

हृदय और मुखारविन्दकी श्री(शोभा) बढ़ गई. परस्पर गाढ़ आलिंगन करते हुए, नेत्रासे आंसुआकी धाराएं बहने लगी जिससे शरीरमा रोमाञ्च होने लगा और उत्कण्ठा बढ़नेसे वाणी भी रुक गई इस प्रकारकी दशा होते ही आनन्दका अनुभव करने लगे।।१५।।

व्याख्यार्थ : भगवद्भक्तोंके साथ अथवा परम्परासे सबकी आसक्ति है, इसलिए निश्चित है, कि सब भगवदीय ही हैं इससे उनमा प्रमेयपन है, यदि प्रमेयत्व न हो तो उसके निरूपण करनेमा अधर्म हो जाये, और प्रकरणका भी विरोध हो जाए अतः उसके कहे हुए अर्थकेलिए ही परस्पर दर्शनसे प्रेमकी अधिकता निरूपण की जाती है, भीतर हर्ष है, उसका ही वैसा वेग है जो बाहर भी अपना अनुभव प्रगट करता है, अतः प्रफुल्लित हृदय तथा मुखकमलकी शोभा दूरसे दर्शन करते ही ऐसी बढ़ गई है. आलिंगनसे तो इससे भी अधिकता हुई जिसका वर्णन करते हैं कि आलिंगनसे काया, वाणी, और मनके तथा इन्द्रियोंके भाव प्रगट देखनेमा आने लगे जैसे कि सर्व इन्द्रियोंके उपलक्षणार्थ कहा कि 'हृष्यत्वचः' शरीरमा रोम खड़े हो गए जिससे कायाका संतोष कहा, वाणी रुक गई इससे वाणीकी प्रसन्नता प्रगट की, आनन्दका अनुभव करने लगे जिससे मनका संतोष बताया।।१५।।

आभासार्थ : इस प्रकार पुरुषोंके परस्पर मिलनका वर्णन कर अब 'स्त्रियश्च संवीक्ष्य' श्लोकमा स्त्रियोंके मिलापका वर्णन करते हैं :

स्त्रियश्च संवीक्ष्य मिथोऽतिसौहृदस्मितामलापाङ्गदृशोऽभिरेभिरे ।
स्तनैः स्तनान्कुङ्कुमपङ्करूषितान्निहत्य दौर्भिः प्रणयाश्रुलोचनाः ।।१६।।

श्लोकार्थ : अत्यन्त सौहार्दके कारण स्त्रियां परस्पर मन्दहास करती तथा सुंदर कटाक्षोंको करती हुई आपसमा आलिंगन करने लगीं. उस समय कुङ्कुमचर्चित स्तनोंको परस्परके स्तनोंको टकराती हुई विशेष प्रेम उत्पन्न होनेसे भुजाओंसे गाढ़ आलिंगन करने लगीं जिससे नेत्रोंमेंसे प्रेमके अश्रुओंकी धार बहने लगी इस प्रकारके मिलनेसे बहुत प्रसन्न हुईं।।१६।।

व्याख्यार्थ : उन स्त्रियोंमा भाव प्रगट हुआ यह जतानेकेलिए उनके मन्दहास और निर्मल कटाक्षोंका निरूपण करते हैं. विशेष सौहार्द अन्दरका मन्द हास मध्यका भाव प्रगट करता है, तथा निर्मल कटाक्ष बाहरके भाव बताते हैं, स्त्रियोंकी दृष्टि इनके साथवाली हैं अर्थात् स्त्रियोंकी दृष्टिमा ये भाव भरे पड़े हैं.

'अभितः' पदसे यह भाव प्रगट किया है कि वाणीके रमणमृ आन्तरमानसभाव, किसी प्रकार रुकावट नहीं करता है, 'स्तनं, स्तनात्' पदसे यह बताया है कि स्त्रियां कायासे परस्पर गाढ आलिंगन करने लगी, प्रेमसे नेत्रामृसे आंसुसे सर्व इन्द्रियाृका परस्पर गाढ आलिंगन होनेको सूचित किया है इस प्रकार दोनाृकी एकता निरूपण की है।।१६।।

आभासार्थ : अतः सब ही भगवदीय है और भगवदीय भगवद्रूप है इसलिए प्रमेय भगवान् ही निरूपण हुए, इस प्रकार उनको भगवदीयत्व निरूपण कर 'ततोऽभिवाद्य' श्लोकसे साक्षात् निरूपण करते हैं :

ततोऽभिवाद्य ते वृद्धान् यविष्ठैरभिवादिताः ।
स्वागतं कुशलं पृष्ट्वा चक्रुः कृष्णकथां मिथः ।।१७।।

श्लोकार्थ : पश्चात् छोटोने जब बड़ोको अभिवादन कर लिया तब उन्हाृने वृद्धाृको अभिवादन कर स्वागत किया और कुशल आदि पूछ लिया, फिर आपसमृ मिलकर कृष्ण चरित्र कहने लगे।।१७।।

व्याख्यार्थ : वृद्धाृको प्रणाम करना धर्म है कीर्तनका अंग है. छोटाृने अभिवादन किया इससे हीनाृका अंगीकर कहा, इस प्रकार उच्च और नीचका ग्रहण कर सबके उपकारकेलिए आपसमृ कृष्णकी कथा करने लगे यह ही परम वैष्णवाृका लक्षण है जैसे कि कहा है भगवद्भक्त परस्पर मिलकर मेरे चरित्राृका वर्णन करते हैं।।१७।।

आभासार्थ : इस प्रकार साधारणाृका निरूपण कर, जिनकी स्वभावसे ही आसक्ति है उन असाधारणाृका परस्पर वैमनस्य दोष मिटानेकेलिए उपालम्भ और उसका परिहार दोनाृका निरूपण करते हैं :

पृथा भ्रातन्स्वसर्वीक्ष्य तत्पुत्रान्पितरावपि ।
भ्रातृपत्नीर्मुकुन्दं च जहौ संकथया शुचः ।।१८।।

श्लोकार्थ : कुन्ती, भाई, बहन, इनके पुत्र, माता, पिता और भोजाई तथा भगवान्को देखकर परस्पर प्रेमकी बाताृसे शोकको भूल गई।।१८।।

व्याख्यार्थ : वसुदेवादि भाई, श्रुतदेवादि बहन, उनके पुत्र बल शिशुपाल आदि, पिता मारिष तथा शूर, भौजाई देवकी आदि, सबको मोक्षदाता भगवान्. 'च'से उनका सबसे सम्बन्ध कहा है इस प्रकारके चरित्रसे शोकको मिटाया सामान्य प्रश्नसे ही शोक लक्षणवाला दोष मिटाया।।१८।।

आभासार्थ : विशेष निराकरण करनेकेलिए 'आर्य भ्रातः' श्लोकसे उपालम्भ(उल्हाना) देती है :

कुन्त्युवाच

आर्य भ्रातरहं मन्ये आत्मानमकृताशिषम् ।
यद्वा आपत्सु मद्वार्तां नानुस्मरथ सत्तमाः ।।१९।।
सुहृदो ज्ञातयः पुत्रा भ्रातरः पितरावपि ।
नानुस्मरन्ति स्वजनं यस्य दैवमदक्षिणम् ।।२०।।

श्लोकार्थ : कुन्ती कहने लगी कि हे आर्य! हे भाई! मैं मेरी आत्माको अकृतार्थ मानती हूं, क्यूंकि तुम समर्थ होते हुए भी मुझ पर जिस समय विपत्तियां आ रही हैं, उस समय सुध नहीं लेते हो. जिससे देव रूठ जाता है, उसका कोई भी सम्बन्धी अर्थात् ज्ञातिवाले, पुत्र, भाई, माता और पिता ये भी सुध नहीं लेते हैं।।१९-२०।।

व्याख्यार्थ : जो दुष्ट हैं वे तो विपत्तिके समयमूं नहीं पूछते हैं आप तो आर्य हैं, आर्य होते हुए भी नहीं पूछते हैं, यह आश्चर्य है. यूं कहकर इसके कारणका, स्वयं ही कल्पना करती है. मैं अपनेको मन्द भागिनी समझती हूं. भाग्यके हेतु युक्त आशिष प्राप्त नहीं की है, इसलिए तुम्हूं विपरीत नहीं मानती हूं. भाग्य नहीं होता है, तब बान्धव पूछते भी नहीं, यह लोकमूं सिद्ध ही है. उसका निरूपण करती है, कि आपदाओंमूं एक भी बात कोई याद नहीं करते हैं, इसलिए हमको क्यूं आश्चर्य करना चाहिए जिसका देव उलटा है उसको कोई मित्र आदि याद नहीं करते हैं. सर्वदा ही आपदा है, आपदाओंमूं यूं नहीं कहना चाहिए. देव अदृष्टका अभिमानी देवता है 'अदक्षिण' पदका भावार्थ है प्रतिकूल।।१९-२०।।

आभासार्थ : वसुदेवजी उपालंभका परिहार करते हैं :

वसुदेव उवाच

अम्ब मास्मानसूयेथा दैवक्रीडनकान्नरान् ।
ईशस्य हि वशे लोकः कुरुते कार्यते हि वा ।।२१।।

श्लोकार्थ : वसुदेवजीने कहा, कि हे अम्ब! देवके खिलौने जो हम मनुष्य हैं, तिन पर दोष मत लगाइये क्यूंकि जगतमूं सब लोक ईशके वशमूं हैं, करना और करवाना उसके आधीन है।।२१।।

व्याख्यार्थ : छोटी बहिनको यहां अम्ब! अर्थात् माता कहा है, जिसका

कारण स्नेह है, स्नेहके वश होकर ही छोटी बहिनको माता कहा है, हम भ्राताआृको दोष दृष्टिसे मत देख अर्थात् हम पर क्रोध मत कर. क्याृकि हम सब देवके खिलोने हैं. देव जैसे खिलाता है वैसे ही खेल रहे हैं. कारण कि मनुष्य सब उसके सेवक है देव यहां काल है वह ही अवतार ले आया है. इसलिए 'काल क्रीडनक' न कहकर 'दैव क्रीडानक' कहा है. सेवकके नाते सब उसके ही आधीन हैं. अतः कर्तापनमृ प्रयोजक हो, अथवा साक्षात् कर्ता बने, नियामक कालरूप ईश्वरके ही वशमृ सब हैं यही अर्थ उचित है, उसके उदरमृ ही उत्पन्न होनेसे उसके वशमृ हैं, जैसा कि जो जिसके गृहमृ उत्पन्न होता है, वह उसीके ही वशमृ रहता है. 'हि' शब्द संग्रहके अर्थमृ है, 'वा' शब्द अनादर अर्थमृ है, सारांश यह है, कि सब क्रियाएं कालरूप देवके आधीन हैं।।२१।।

इस प्रकार सामान्यरूपसे पराधीनपन कहकर अब 'कंसप्रतापिताः' श्लोकसे विशेषरूपसे कहते हैं :

कंसप्रतापिताः सर्वे वयं याता दिशं दिशम्।
एतर्ह्येव पुनः स्थानं दैवेनासादिताः स्वसः ।।२२।।

श्लोकार्थ : हम सब कंससे दुःखी होकर अनेक दिशाआृमे गए, अब ही हे बहिन! फिर काल ही इस अपने स्थान पर लाया है।।२२।।

व्याख्यार्थ : सब यादवाृने कंससे बहुत दुःख पाए. आठाृ दिशाआृमृ जहां तहां जाकर जैसे तैसे निवास किया, अब ही भोगसे काल कैसे गुजरा, यह स्मरण न रहा. पश्चात् कंसका वध अब ही हुआ याृ माना जाता है. फिर अपने स्थान पर दुःख भोगनेसे पहले जैसे रहे हुए थे वैसे ही भगवान् काल ले आए हैं, तुम बहिन हो जिससे तुमसे कपट(धोखा) नहीं करते हैं जो सत्य है वह ही कर रहा हूं।।२२।।

आभासार्थ : वैसे दोषका परिहार कहकर, गुणाृका वर्णन करनेकेलिए पहले मानस गुण 'वसुदेवोग्रसेनाद्यैः' श्लोकसे वर्णन करते हैं :

श्रीशुक उवाच
वसुदेवोग्रसेनाद्यैर्यदुभिस्तेऽर्चिता नृपाः।
आसन्नच्युतसंदर्शपरमानन्दनिर्वृताः ।।२३।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि वसुदेव और उग्रसेन आदि यादवाृसे अर्चित वे राजा लोग भगवान्के दर्शन कर परमानन्दमृ मग्न हो गए थे।।२३।।

व्याख्यार्थ : वसुदेव अलोकिक होनेसे महान् है उग्रसेन लोकिक होते हुए

भी महान् है. वे दोनू यादवूके अगुए हैं उनसे जो सब आये हैं एवं जो सब आनेवाले बताए जाएंगे वे सब महान् पुरस्कारसे पूजित हुए, जिससे उनके सब दोष मूलसे नष्ट हो गए. अच्युत भगवान्के दर्शन हो जानेसे परमानन्दमू मग्न हो गए यह आनन्द मानस हुआ।।२३।।

आभासार्थ : तीन श्लोकूसे इनकी गणना करते हैं :

भीष्मो द्रोणोऽम्बिकापुत्रो गान्धारी ससुता तथा।
सदाराः पाण्डवाः कुन्ती सृञ्जयो विदुरः कृपः ।।२४।।

श्लोकार्थ : भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र, गान्धारी पुत्रूके साथ, स्त्री सहित पाण्डव, कुन्ती, संजय, विदुर और कृपाचार्य।।२४।।

व्याख्यार्थ : सात्त्विक, राजस और तामस क्रमसे निरूपण किए हैं 'पुत्रूके साथ अम्बिकाका पुत्र धृतराष्ट्र, गान्धारी तथा' पदसे गान्धारीके सात्त्विकपनेका निषेध कहा है, सात्त्विकूके नव भेद हैं।।२४।।

आभासार्थ : वैसे ही नव प्रकारके राजसूका 'कुन्तिभोजः' श्लोकमू वर्णन करते हैं :

कुन्तिभोजो विराटश्च भीष्मको नग्नजिन्महान्।
पुरुजिद्द्रुपदः शल्यो धृष्टकेतुः सकाशिराट् ।।२५।।
दमघोषो विशालाक्षो मैथिलो मद्रकेकयौ।
युधामन्युः सुशर्मा च ससुता बाह्लिकादयः ।।२६।।

श्लोकार्थ : कुन्ति, भोज, विराट, भीष्मक, नग्नजित्, पुरुजित्, द्रुपद, शल्य, धृष्टकेतु, काशीराज, दमघोष, विशालाक्ष, मिथिलाका राजा मद्रदेशका राजा केकय देशका राजा युधामन्यु सुशर्मा बाह्लिक आदि और उनके पुत्र।।२५-२६।।

व्याख्यार्थ : 'महान्' यह नग्नजित् जिनका विशेषण है, कुन्ति भोजसे काशिराज तक नव राजस हैं और दमघोषसे लेकर मद्र देश तथा केकय देशके राजा एवं सुत सहित भूरिश्रवादि अलग कहे हैं अतः वे भी नव प्रकारके तामस हैं।।२५-२६।।

आभासार्थ : निर्गुण अथवा परम सात्त्विकका सम्बन्धके अभावसे 'राजा नोऽन्ये' श्लोकोमू वर्णन करते हैं :

राजानोन्ये च राजेन्द्र युधिष्ठिरमनुव्रताः।

श्रीनिकेतं वपुः शौरेः सस्त्रीकं वीक्ष्य विस्मिताः ।।२७।।
अथ ते रामकृष्णाभ्यां सम्यक्प्राप्तसमर्हणाः ।
प्रशशंसुर्मुदा युक्ता वृष्णीन्कृष्णपरिग्रहान् ।।२८।।

श्लोकार्थ : युधिष्ठिरके अनुयायी दूसरे भी राजा लोग वहां आए और लक्ष्मी निवास भगवान्के वपु(श्रीअंग)को और उनकी स्त्रियाृको देखकर विस्मित हुए।।२७।।

श्लोकार्थ : अनन्तर राम कृष्णसे पूजा पाकर, प्रसन्न हो कृष्णके परिग्रह यादवाृकी प्रशंसा करने लगा।।२८।।

व्याख्यार्थ : पहले जिनका वर्णन हुआ है उनसे पृथक दूसरे 'च' पदसे उनके सम्बन्धी भी थे, ये सम्बन्धी जब त्रिगुण हैं तब ये दूसरे निर्गुण वा परम सात्त्विक कैसे हुए? जिसके उत्तरमृ कहते हैं, 'युधिष्ठिरमनुव्रता' युधिष्ठिरके अनुयायी थे, युधिष्ठिर परम वैष्णव थे अतः उनके संगसे उनने वेसी शिक्षा प्राप्त की. इस प्रकार ये चार ही श्रीके निवास स्थान भगवान्के श्रीअंगको देखकर अचम्भेमृ पड़ गए, यह श्रीअंग ध्यानगम्य कैसे हुआ? जिसके उत्तरमृ कहते हैं कि ध्यानगम्य इसलिए है कि लक्ष्मीके निवास स्थान हैं. सहजभार्याके होते हुए भी फिर अन्याृका परिग्रह भी आश्चर्यकारक है. उनकी एक मति तथा कान्तिकी बहुलता देखकर विस्मित हुए. राजा यदि निरन्तर स्मरण करृ तो ज्ञानकी उत्पत्ति हो जावे, जिससे मुक्तिकी प्राप्ति हो, याृ होना भगवान्को अब अभीष्ट(इच्छित) नहीं है, इसलिए ये राम व कृष्णने इनकी पूजा करनी प्रारम्भ की. अच्छी तरह पूजित होनेसे प्रसन्न हुए तथा भगवदिच्छासे भक्त भी बन गए, अतः भगवान्की स्तुति करने लगे. 'मुदायुक्ताः' पदसे यह बताया है कि केवल दिखावेकेलिए वाणीसे स्तुति नहीं की किन्तु अन्तःकरण शुद्ध एवं प्रसन्न होनेसे अन्तःकरणके आह्लादसे भावपूर्वक प्रशंसा करने लगे. भगवान्की तो सब स्तुति करते है किन्तु वे विरले(थोड़े) हैं जो भगवान्के परिग्रहकी भी स्तुति करृ अतः उन्हृने कृष्णके परिग्रह यादवाृकी प्रशंसा की है।।२७-२८।।

आभासार्थ : 'अहो भोजपते' श्लोकसे लेकर तीन श्लोकाृमृ सात्त्विक आदि भावसे प्रशंसाका वर्णन करते हैं :

राजान ऊचुः
अहो भोजपते यूयं जन्मभाजो नृणामिह ।

यत्पश्यतासकृत्कृष्णं दुर्दर्शमपि योगिनाम् ।।२९।।

श्लोकार्थ : अहो भोजपते! इस लोकमॄ मनुष्यॄमॄ यदि कोई भाग्यशाली है, जिनका जन्म सफल हुआ हो, तो आप ही हैं, क्यॄकि जिस कृष्णका योगियॄको समाधिमॄ भी महान् कष्टसे दर्शन होता है, उनका आप निरंतर दर्शन पा रहे हो।।२९।।

व्याख्यार्थ : भगवान्के दर्शन बहुत दुर्लभ हैं, यॄ मानकर, वे दुर्लभ दर्शन बिना श्रमके स्वतः निरन्तर हो रहे हैं, इस प्रकार हे भोजपते राजन्! मनुष्यॄमॄ वास्तविक सफल जन्मवाले आप ही हैं. वेकुण्ठ वासियॄको भी कदाचित् दर्शन होते हैं और यदि योग भी पूर्ण सिद्ध हो तो एक बार दर्शन होता है, आप तो बार बार दर्शन पा रहे हैं. यदि श्लोकमॄ 'पश्यथ' पाठ हो तो समझना चाहिए कि यह पाठ 'च्छान्दस' अर्थात् वैदिक है इसलिए यहां 'त'का आदेश नहीं हुआ है।।२९।।

आभासार्थ : इस प्रकार भगवान्के दर्शनकी प्रशंसा कर भगवान्के गुणॄके श्रवण आदि धर्मोंकी 'यद्विश्रुतिः' श्लोकसे प्रशंसा करते हैं :

यद् विश्रुतिः श्रुतिनुतेदमलं पुनाति पादावनेजनपयश्च वचश्च शास्त्रम् ।
भूः कालभर्जितभगापि यदङ्घ्रिपद्मस्पर्शोत्थशक्तिरभिवर्षति नोऽखिलार्थान्।३०।

श्लोकार्थ : वेदसे प्रशंसित जिनकी कीर्ति, व जिनके चरण धोवनका जल(गंगा) और जिनके वचनरूप वेद, इस जगत्को अति पवित्र करते हैं और यह पृथ्वी, कालकी गतिसे शक्ति होने पर भी जिनके चरणारविन्दके स्पर्शसे उत्तम शक्ति पाकर हमॄ सर्व पदार्थ दे रही है।।३०।।

व्याख्यार्थ : सर्व श्रुतियॄने जिनकी कीर्ति गाई है, इससे श्रीकृष्णका अधिक माहात्म्य कहा है, अथवा श्रोत इन्द्रियॄने आपकी कीर्ति अतिशय रसाल होनेसे अतिशय आदरसे ग्रहण की है. इस जगत्को वह बहुत ही पवित्र कर रही है. भगवत् कीर्तिका विषयपनसे भगवान्से सम्बन्ध है साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, ऐसा होते हुए भी यदि पवित्र करती है, तो यदि भगवान् साक्षात् संबद्ध हो तो क्या कहा जाए यह कह नहीं सकते, यॄ माहात्म्य निरूपण किया. कीर्ति सात्त्विकी है, गंगा राजसी है और शास्त्र उनसे दूसरे प्रकारका है. सबके तुल्यपनकेलिए कहा है, कि 'पादावनेजनपयः' अर्थात् गंगाजी 'शास्त्रं वचो' कहनेका भावार्थ है गीता और भागवत, ये दोनॄ भी निर्मल कर पवित्र करते हैं इस प्रकार कीर्ति आदि द्वारा भी

भगवान्का माहात्म्य कहकर फिर अन्य प्रकारसे साक्षात्के द्वारा जो हुआ है वह कहते है, 'भूः' अति बलवान् कालने जिसकी दृष्ट और अदृष्ट सामर्थ्य कर दी है, तो भी, साक्षात् भगवान्के चरणारविन्दके केवल स्पर्शसे ही जिसकी सर्व शक्तियां जाग्रत हो गई हैं, ऐसी पृथ्वी बलवती बनकर हम लोगॄको सब प्रकारके पदार्थ दे रही है. यॄ कहनेसे यह बताया है कि कालसे ग्रस्तमॄ भी भगवान्के चरणस्पर्शसे पुनः वही पूर्ण शक्ति आ जाती है, इस प्रकार कहकर यह सूचित किया है, कि चरण स्पर्शसे पहलेसे भी विशेषता उसमॄ आ जाती है जिससे सर्वकेलिए उसमॄ उपजीव्यता(जिस पर जीविकाका निर्भर हो) प्रकट हो जाती है यॄ निरूपण किया है।।३०।।

आभासार्थ : यॄ दर्शन और स्पर्शनके माहात्म्यका वर्णन कर, ऐसे दर्शन आदि सर्व जिनको मिलते हैं उनके भाग्यका क्या वर्णन किया जावे, यह 'तद्दर्शन-स्पर्शनस्य' श्लोकमॄ वर्णन करते हैं :

तद्दर्शनस्पर्शनानुपथप्रजल्पशय्यासनाशनसयौनसपिण्डबन्धः ।
येषां गृहे नरकवर्त्मनि वर्ततां नः स्वर्गापवर्गविरमः स्वयमास विष्णुः ।।३१।।

श्लोकार्थ : उन साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके साथ दर्शन, स्पर्शन, अनुसरणसे और इनके साथ वार्तालाप करना तथा सोना एवं भोजन करना, सपिण्ड और कन्या लेन-देन आदि सम्बन्धसे बन्धे हुए ह्यॄ आदि नव प्रकारके सम्बन्धसे श्रीकृष्णके साथ आपका सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, यह आपका सम्बन्ध इनके साथ नरकके द्वार गृहमॄ हो रहा है जिससे आपको स्वर्ग और मोक्षकी स्पृहा भी नहीं रहती है, यही आपका सबसे अधिक उत्कर्ष है।।३१।।

व्याख्यार्थ : ऐसा साक्षात् श्रीकृष्णका दर्शन, स्पर्शन तथा उनके साथ घूमना, सम्भाषण करना, सोना, भोजन करना, बैठना, कन्या लेन देनका सम्बन्ध, गोत्र सम्बन्ध, इस प्रकार नव भांति जिसका साक्षात् सम्बन्ध भगवान्के साथ है, सगुण सम्बन्ध तो दुर्लभ होता है, इसलिए वह सम्बन्ध ही कहा है, किञ्च नरक द्वार गृहमॄ रहनेवाले आपको नरक प्राप्ति आवश्यक है साधारणतया केवल गृह भी नरकका साधन है, तो मर्यादा रहित हम और आपको तो सहज ही नरक प्राप्त ही है तो भी दूसरॄकेलिए जो घर नरकका द्वार है, वह ही घर आपकेलिए विष्णु प्राप्ति कर हुआ है. स्वयं विष्णु ही सर्व संदेहके निवारक हैं यॄ हुआ तो भी क्या हुआ? इस शंकाको मिटानेकेलिए कहते हैं कि विष्णुने जो

उपयोगी गुण किया है, वह यह है कि आपको भगवान्के साथ इस प्रकारके सम्बन्ध होनेसे स्वर्ग और मोक्षकी भी तृष्णा नहीं है. भगवान्के दर्शन मात्र होने पर किसीके मनमॅू भी स्वर्ग वा मोक्षके आनन्दकी चाहना नहीं रहती है अथवा वहां उनको आनन्द भी देखनेमॅू नहीं आता है, तब तक ही स्वर्ग और मोक्ष अच्छे लगते हैं और उनमॅू आनन्द आता है,जब तक भगवान्से इस प्रकार सम्बन्ध नहीं होता है, इसी तरह उनकी स्तुति करनेसे परम भक्तिके आवेशसे युक्त हो गए, जिससे विशेष बोल न सके।।३१।।

आभासार्थ : इस प्रकार सजातियॅूका भगवत्परायण कहकर अब विजातियॅूके प्रमेयपनकेलिए 'नन्दस्तत्र' श्लोकसे वर्णन करते हैं :

श्रीशुक उवाच

नन्दस्तत्र यदून् प्राप्तान् ज्ञात्वा कृष्णपुरोगमान्।
तत्रागमद्व्रतो गोपैरनःस्थार्थैर्ददृक्षया ।।३२।।

श्लोकार्थ : नन्दजीने सुना कि श्रीकृष्णके साथ यादव कुरुक्षेत्र आए हैं, अतः उनके देखनेकी इच्छासे आप भी गाड़ीमॅू सब सामान भर गोपॅूको साथ ले कुरुक्षेत्र आए।।३२।।

व्याख्यार्थ : वह(नन्दरायजी) पूर्वकी तरफ रहनेसे यादवॅूसे दूर थे, क्यॅूकि यादव पश्चिममॅू रहते थे, अतः वे जब कुरुक्षेत्र आ गए, तब नन्दरायजीने सुना कि यादव अपने नेता श्रीकृष्णके साथ कुरुक्षेत्र पहुंच गए हैं, तब भगवान्के ऐश्वर्य देखनेकी मनमॅू उत्कण्ठा उत्पन्न हुई, जिससे उनको देखनेकी इच्छासे गाड़ीमॅू सब सामान भर गोप आदि सबको साथमॅू ले कुरुक्षेत्र आ गए।।३२।।

आभासार्थ : यादवॅूको नन्दादिको पहलेसे विशेष देखनेकी इच्छा हुई, वह 'तं दृष्ट्वा' श्लोकसे कहते हैं :

तं दृष्ट्वा वृष्णयो हृष्टास्तन्वः प्राणमिवोत्थिताः।
परिषस्वजिरे गाढं चिरदर्शनकातराः ।।३३।।

श्लोकार्थ : नन्दरायजीको देखकर यादव बहुत प्रसन्न हुए और जैसे प्राण आनेसे इन्द्रियां उठकर खड़ी हो जाती हैं वैसे वे भी उठकर खड़े हो बहुत दिनॅूसे दर्शन होनेके कारण कायर हुए यादव उनका जोरसे आलिंगन करने लगे।।३३।।

व्याख्यार्थ : दर्शन होते ही यादव प्रसन्न हुए, मनसे प्रेम उत्पन्न होने लगा, बिना प्रेरणाके ही देह खड़ी होने लगी, जैसे प्राण आनेसे हस्त-पादादि

अवयव आप ही सजग हो जाते हैं. इससे यह सूचित किया कि इतने समय तक यादव माऩू मूर्च्छितसे पड़े थे, अब सजग हो क्रमसे ज्यू-ज्यू मिलनेका अवसर आता गया, त्यू त्यू प्रत्येक गाढ आलिंगन करने लगा. बहुत समयके बाद दर्शन होनेसे अधीर हो गए थे. यू मनमू शंका होती थी, कदाचित् हमको छोड़कर चले जायूगे तो आलिंगनका और मिलनका आनन्द हमको न मिलेगा।।३३।।

आभासार्थ : यू साधारण यादवूका हाल कहकर पहलेकी तरह वसुदेवजीका 'वसुदेवः परिष्वज्य' श्लोकसे विशेष कहते हैं :

वसुदेवः परिष्वज्य संप्रीतः प्रेमविह्वलः।
स्मरन् कंसकृतान् क्लेशान् पुत्रन्यासं च गोकुले ।।३४।।

श्लोकार्थ : वसुदेवजी कंसके दिए हुए दुःखूको और अपने पुत्र गोकुलमू छोड़े थे उसका स्मरण कर विह्वल हो गए थे किन्तु यादवूसे मिलकर जो आनन्द हुआ उसे अन्तःकरणमू उत्पन्न प्रेमसे प्रसन्न हुए।।३४।।

व्याख्यार्थ : वसुदेवजी भीतरके प्रेमसे अत्यन्त प्रसन्न हुए, किन्तु बाहर विह्वल हो गए. उनकी ऐसी अवस्थाका निरूपण किया. बाहरकी विह्वलताके कारण कहते हैं कि(१) कंसने जो दुःख दिए थे, उनका स्मरण होने लगा.(२) अपने पुत्रूको कंसने मारा, जिससे राम कृष्णको गोकुलमू छोड़ना पड़ा, इन कारणूसे बाहर विह्वल देखनेमू आए।।३४।।

आभासार्थ : 'कृष्णरामौ' श्लोकसे नन्दको साक्षात् भगवान्के दर्शन हुए, जिसका वर्णन करते हैं :

कृष्णरामौ परिष्वज्य पितरावभिवाद्य च।
न किञ्चनोचतुः प्रेम्णा साश्रुकण्ठौ कुरूद्वह ।।३५।।

श्लोकार्थ : हे महाराज! श्रीकृष्ण और रामने माता-पिता(यशोदा और नन्दरायजी) को आलिंगन कर प्रणाम किया, जिससे प्रेमके कारण नेत्रूसे आंसू बहने लगे और कृष्ण गद्गद होनेसे रुद्ध हो गए, अतः कुछ भी न बोल सके।।३५।।

व्याख्यार्थ : दोनू भाई राम और श्रीकृष्णने पहले आलिंगन किया, पश्चात् माता-पिताको प्रणाम किया, जिससे प्रेम उमड़ आया, उससे कण्ठ रुद्ध(रुन्ध) गया, अतः कुछ भी न बोल सके. नन्दमू भगवान्ने कायिक तथा मानसिक व्यापार दिखाया, वाणीका नहीं. 'कुरुद्वह' सम्बोधन विश्वास

दिलवानेकेलिए है।।३५।।

आभासार्थ : पश्चात् 'तावात्मासनम्' श्लोकसे नन्दका कृत्य कहते हैं :

तावात्मासनमारोप्य बाहुभ्यां परिरभ्य च।

यशोदा च महाभागा सुतौ विजहतुः शुचः ।।३६।।

श्लोकार्थ : यशोदाजीने दोनॄ पुत्रॄको अपने आसन पर बिठाया और अपनी भुजाओंसे आलिंगन किया, महाभाग्यवती यशोदाजीने भी इतने दिनॄके विरह तापको, दर्शन आदिसे विप्रयोगका जो ताप था, उसको नेत्रसे आंसू बहाते हुए बाहर निकाल दिया।।३६।।

व्याख्यार्थ : 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस न्यायानुसार यशोदा और नन्दने बालभावसे ही भगवान्की भावना की, जिससे वे इनके सामने बालकरूपसे ही खड़े हुए. अतः बालक हो जानेसे अपनी गोदमॄ बिठाया, जिससे आप ही आसन हुए, पश्चात् दोनॄ भुजासे आलिंगन किया. 'च' शब्दसे यह भाव बताया है कि मस्तक आदि भी सूंघे, यॄ करनेसे उन्होंने अपने शोकको आंसुओंके साथ बाहर निकाल दिया।।३६।।

आभासार्थ : इसी तरह पुरुषॄका परस्पर सम्बन्ध कहकर, अब 'रोहिणी' श्लोकसे स्त्रियॄका सम्बन्ध बताते हैं :

रोहिणी देवकी चाथ परिष्वज्य व्रजेश्वरीम्।

स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीं बाष्पकण्ठ्यौ समूचतुः ।।३७।।

श्लोकार्थ : यशोदाजीकी की हुई मैत्रीको स्मरण करती हुई रोहिणी और देवकी कण्ठमॄ अश्रुभर आलिंगन कर उससे कहने लगी।।३७।।

व्याख्यार्थ : यह प्रक्रम पहले जो कहा जा चुका है उनसे पृथक् है. 'च' उनकी सम्बन्धिनियां भी समझनी, जो असमान हैं, उनका आलिंगन कैसे किया? जिसके उत्तरमॄ कहा है कि ये(यशोदा) व्रजेश्वरी हैं अर्थात् सब गोधनकी स्वामिनी हैं. अतः देवतारूप होनेसे ही असमान हैं, अन्यथा नहीं है. बादमॄ उसको की हुई मैत्रीका स्मरण होते ही कण्ठ आंसुओंसे भर गया अर्थात् गद्गद कण्ठवाली हो कहने लगी, इससे दोनॄका कायिक आदि तीनॄ व्यापार कहे हैं।।३७।।

आभासार्थ : इन दोनॄके वाक्य 'को विस्मरेत' तथा 'एतावदृष्ट' श्लोकॄसे कहते हैं :

को विस्मरेत वां मैत्रीमनिवृत्तां व्रजेश्वरि।

अवाप्याप्यैन्द्रमैश्वर्यं यस्या नेह प्रतिक्रिया ।।३८।।

श्लोकार्थ : हे व्रजेश्वरी! सदा समान वर्तमान आपकी मैत्री ऐसी है, जिसका बदला इन्द्रका ऐश्वर्य देने पर भी नहीं चुकाया जा सकता है, उसे कौन भूल सकता है? ।।३८।।

व्याख्यार्थ : आप दोनॄ(नन्द और यशोदा)की मैत्री जिसका प्रत्युपकार(बदला) हो नहीं सकता है, उसे कौन भूल सकता है? व्रजेश्वरी! यह सम्बोधन माहात्म्य प्रगट करनेकेलिए दिया है. नन्दजी भी निकट ही रहते हैं, क्षत्रियॄका ही व्यवहार दूरमॄ होता है. कदाचित्(शायद) कभी बदला देनेमॄ समर्थ होते हुए भी यादव बदला न चुकावॄ, इस प्रकारकी शंका(कृतघ्नताका भाव) यशोदाजीके मनमॄ उत्पन्न हो तो उसकी निवृत्तिकेलिए कहते हैं कि इन्द्रके समान ऐश्वर्य प्राप्त कर कौन भूल सकता है? यशोदा और नन्दने जितना ऐश्वर्य दिया है, उतना स्वर्गमॄ भी नहीं है, वह ही विस्मारक होता है. जो महान् हो, फिर प्रत्युपकार तो करना चाहिए. इस पक्षमॄ भी कहते हैं कि 'ऐन्द्र' पद देने पर भी प्रत्युपकार नहीं हो सकता है. यॄ 'इन्द्र' पदकी बड़ाई कही है, जिस मैत्रीकी इस जगत्मॄ प्रतिक्रिया ही नहीं है, ऐसी आपकी मैत्री है. आप दोनॄने इस मैत्रीसे यादवॄको क्रय(खरीद) कर लिया है, यॄ कहा जा सकता है।।३८।।

आभासार्थ : 'एतौ' श्लोकसे उस मैत्रीका स्मरण करवाती है :

एतावदृष्टपितरौ युवयोः स्म पित्रोः संप्रीणनाभ्युदयपोषणलालनानि ।
प्राप्योषतुर्भवति पक्ष्म ह यद्वदक्ष्णोः न्यस्तावकुत्र च भयौ न सतां परस्वः।३९

श्लोकार्थ : जिन्होॄने माता-पिताको देखा ही नहीं, ऐसे ये हमारे पुत्र जिस तरह पलकसे नेत्र रक्षा पाते हैं, वैसे आपसे ही इन्होॄने रक्षा पाई है. माता-पितारूप आपने ही इनका लालन-पालन, अभ्युदय व पोषण किया है, जिससे ये सब तरहसे आपके यहां निर्भय रहे. यह कहावत सत्य है कि सत्पुरुष मेरा और पराया ऐसा भेद जानते ही नहीं है।।३९।।

व्याख्यार्थ : बाल्यकालमॄ ही बालक प्रथम माता पिताको ही देखता है. वह इन दोनॄको न हुआ. आप हीने माता पिता होकर सर्व प्रकार अलौकिक रीतिसे, सब कुछ देकर इनका हितादि किया क्योॄकि आपके वहां ही रहे. इनका अभ्युदय(उन्नति) भी शान्तिक(शान्ति करानेवाला) आदिसे आपने ही किया. नवनीत(मक्खन) आदि पौष्टिक पदार्थोंद्वारा इनका पोषण किया, स्तुति एवं

चुम्बन आदिसे लाड लडाए, इसी तरह चारॄ प्रकारसे इनकी वैसी रक्षा आदि आपने की, जैसे पलक सब तरह आंखका पोषण करती है. 'हे भवति' संबोधनसे यशोदाजीकी नन्दसे भी विशेष स्तुति की है. क्यॄकि पलककी तरह पुत्रकी रक्षा विशेष कर माता ही ध्यानपूर्वक करती है. इस कारणसे ही आपके पास रक्षित ये दोनॄ सर्वथा निर्भय हो रहते थे. यॄ कहकर बताया कि पूतना आदिका भय भी निवृत्त हो गया, इस प्रकार रक्षा अपनी सन्तानकी ही की जाती है अतः कृष्ण हमारा है, हम ही इसको ले जावॄ, इस शंकाके उत्तरमॄ कहती हैं, कि अपना और पराया ऐसी असत् बुद्धि सत्पुरुषॄकी कभी नहीं होती है।।३९।।

आभासार्थ : इसी तरह दूसरियॄका कहकर अब 'गोप्यश्च' श्लोकसे तीसरियॄका करते हैं :

श्रीशुक उवाच

गोप्यश्च कृष्णम् उपलभ्य चिराद् अभीष्टं यत् प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति ।
दृग्भिर्हृदीकृतम् अलं परिरभ्य सर्वाः तद्भावम् आपुरपि नित्ययुजां दुरापम् ।।४०।।

श्लोकार्थ : बहुत समयसे जिस समय श्रीकृष्णके दर्शनकी लालसा थी, गोपियॄने उनको प्राप्त किया, किन्तु नेत्रॄमॄ पलक रचनेवाले ब्रह्मा (भगवान्के दर्शन करनेमॄ) विघ्नरूप हुआ, जिससे उसको गोपियां शाप देने लगी और भगवान्को नेत्रॄ द्वारा हृदयमॄ धारण कर, उनका गाढ आलिंगन कर, नित्य समाधि द्वारा भगवान्के दर्शनकी इच्छावाले योगियॄको भी दुर्लभ, ऐसे दर्शन कर भाव द्वारा उस भाव स्वरूपका आप भी रूप बन गई।।४०।।

व्याख्यार्थ : गोपियॄको कृष्णसे मिलाप, सम्भाषण आदि करना था. देवकी आदिसे नहीं, क्यॄकि गोपियॄके मनमॄ, यह बात अब तक खटक रही थी, कि ये ही व्रजसे कृष्णको अपने पास ले गई हैं. वैसी गोपियां कृष्णको प्राप्त कर अच्छी तरहसे दर्शन कर, नेत्रमॄ स्थित भगवान्को नेत्रॄसे ही हृदयमॄ धारण कर, देह आदि रुकावटसे रहित, आत्मासे ही अत्यन्तमेव आलिंगन कर सर्व गोपियां कृष्ण भावको प्राप्त हो गई, अर्थात् हृदयमॄ पधारे हुए भगवान्को आलिंगन करनेकेलिए प्रवृत्त गोपियां अपने जीवात्माको उनमॄ जोड़कर भगवान्के साथ ऐक्यको प्राप्त हुई. उस समय गोपियॄका लिंगशरीर भी विद्यमान था, तो ऐक्य कैसे? जिस शंकाका निवारण करते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि जीव धर्मकी अपेक्षा भगवद्धर्म बलिष्ठ है, इसलिए जीव भावका त्याग कर भगवद्भावको

प्राप्त हुई. प्राण सर्वभावसे उनके समीप जानेके हेतु था बहुत समयसे प्राप्तिकी इच्छा. इच्छाकी परम सीमाको कहते हैं कि भगवान्‌के दर्शनमॄ, रुकावट डालनेवाली, जो पलकॄ थीं. उनको बनानेवाले ब्रह्माको 'जड़ उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशां' श्लोकमॄ शाप देती हैं, कि 'ब्रह्मा जड़ अर्थात् मूर्ख है' आंखॄकी रक्षाकेलिए पलकॄ बनाई, किन्तु भगवद्दर्शनके कालमॄ आंखॄकी कोई हानि नहीं होती है, अतः पलकॄ व्यर्थ, बल्कि दर्शनमॄ रुकावट करती हैं इसलिए बाधक हैं, अतः ब्रह्माने भगवद्दर्शनाभिलाषियॄके नेत्रॄमॄ जो पलकॄ बनाई हैं, इससे जाना जाता है कि ब्रह्मा भगवद्दर्शनसे जो रस प्राप्त होता है, उसको नहीं जानता है, अतः मूर्ख ही है. यॄ कहती हुई भगवान्‌के दर्शन समय, नेत्रॄमॄ जो पलके बनानेवाला है उसको शाप देती हैं, इस प्रकार दर्शनके रसको जाननेवाली गोपियॄने नेत्रॄसे भगवान्‌को हृदयमॄ विराजमान कर लिया. भगवान् यदि बाहर विराजते तो आलिंगनमॄ बाधा पड़ेगी, भीतर ही गाढ आलिंगन करती हुई तद्रूप बन गई यह भाव उनके कामसे हुआ, उसमॄ भी किसी प्रकार परिश्रम नहीं हुआ, हजारॄ साधनॄसे यॄ होना अशक्य है, इसको दृष्टान्तसे समझाते हैं कि निरन्तर जो योगमॄ आसक्त हैं उनको भी यह आनन्द प्राप्त नहीं होता है, भगवान्‌ने असूया(डाह) आदि दोषॄके परिहारकेलिए दूसरा उपाय न देखकर स्वभाव ही ऐसा दिया, उनके स्वभावमॄ कोई अन्य प्रतीति नहीं है. अतएव सुना जाता है कि,

'गोमति मतिमति किमिदं हरि हरि हरिणा कथं संग।
जातं पीतं वसनं मेचकमङ्गं गतोऽङ्गनाभावम्' इति।।का.।।

हे बुद्धिमती वाणी! आपने ऐसेसे संग कैसे किया, जिसके वस्त्र पीले और अंग श्याम तथा स्वयं स्त्रीभावको प्राप्त हो गए हैं.

अतः पूर्व भावको भूल जानेकेलिए भगवान्‌ने इस प्रकार यह लीला की है–यॄ तृतीय कक्षावाले भक्तॄका प्रति उत्कर्ष कहा है।।४०।।

आभासार्थ : पश्चात् भगवान् उनके भावको दृढ करनेकेलिए और कुछ उपदेश देनेकेलिए वहांसे उठकर एकान्तमॄ जाकर जो उचित कर्तव्य करना था, वह करने लगे यह 'भगवान्' श्लोकसे वर्णन करते हैं :

भगवांस्तास्तथाभूता विविक्त उपसंगता।
आश्लिष्यानाम् अयं पृष्ट्वा प्रहसन् इदम् अब्रवीत्।।४१।।

श्लोकार्थ : भगवान् वैसी गोपियॄसे एकान्तमॄ मिले. उनके भावके

अनुसार आलिंगन कर, उनसे कुशल पूछ अनन्तर हंसकर, यॄ कहने लगे।।४१।।

स्वयं भगवान् भीतर बिराज रहे हैं इसलिए जो कुछ आप करॄगे, उसको वे स्वीकार करॄगी, अतः एकान्तमॄ गोपियां भगवान्के समीप आई. बाहर स्वयं ही आलिंगन कर अपने बाहरके धर्मोंको भी उनमॄ बाहर स्थापन किया, बादमॄ कुशल पूछ अपने वचन याद कर हंसते हुए निम्न वचन कहने लगे।।४१।।

आभासार्थ : उनमॄ मानॄ अपनी लीलाओंको स्थापित करते हुए कहने लगे :

श्रीभगवानुवाच

अपि स्मरत नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया।
गतांश्चिरायितान् शत्रुपक्षक्षपणचेतसः ।।४२।।

श्लोकार्थ : भगवान्ने कहा– हे सखिओं! हम अपने बंधुओंके कार्य करनेकी इच्छासे गए थे, किन्तु वहां शत्रुओंके पक्षका नाश करनेमॄ लग गए, जिससे वहां बहुत दिन तक रुक गए. गोकुलमॄ रहते हुए तुमने हमको कभी याद भी किया? ।।४२।।

व्याख्यार्थ : हे सखिओं! 'अपि' शब्द यहां सम्भावना अर्थमॄ दिया है. क्या हमको याद करती हो? यदि नहीं करती हो तो आपका ही दोष है, यॄ कहना परिहासार्थ है, भगवान् अपने अपराधको मिटाते हैं, मैं तो सम्बन्धियोंकी कार्य पूर्तिकेलिये मथुरा गया, वहां उनके हित कार्य करनेकी प्रवृत्तिमॄ लग जानेसे बहुत समय लग गया इस कारणसे नहीं आ सका. चित्त तो तुम लोगोंमॄ लगा हुआ था. बहुत समय क्यॊ लगा? जिसका कारण बताते हैं कि वहां शत्रु पक्षको किसी भी तरह नाश करनेमॄ लग गया था, यदि साधारणतया कार्य करॄगे तो शत्रु समूल नष्ट न होंगे अतः विशेष समय रहकर उनको सर्व प्रकार समूल ही नाश करना था. स्त्रियोंसे यॊ परिहासकी भाषामॄ भगवान्ने कहा।।४२।।

आभासार्थ : जो मर्मको नहीं समझ सकता है, वह इसको अंगीकार करेगा न कि समझनेवाला. गोपीयां तो अभिज्ञ(समझदार) हैं अतः समझती हैं कि भगवान् हमको यॊ कहकर ठगते हैं, इसलिए भगवान्मॄ उनकी विरुद्ध ध्यानवाली बुद्धि हो गई, अतः उनके इस दोषको मिटानेकेलिए भगवान् 'अप्यवध्यायथा' श्लोकमॄ गोपियोंको उपदेश देते हैं अर्थात् समझाते हैं :

अप्यवध्यायथास्मान्स्विदकृतज्ञा विशङ्कया।

नूनं भूतानि भगवान् युनक्ति वियुनक्ति च ।।४३।।

श्लोकार्थ : हम आपको भूल गए हैं, ऐसी शंका मनमृ कर हम पर विरुद्ध विचारसे दोषारोपण नहीं करना, कारण कि मिलना एवं पृथक् होना तो मनुष्यके हाथमृ नहीं, किन्तु भगवान्के हाथमृ है. वे जब मनुष्यको पृथक् करना चाहते हैं, तब पृथक्पन प्राप्त होता है और जब मिलाना चाहते हैं तब मिलाप होता है, इसलिए आप इस बातको समझ लो कि सबकेलिए यह नियम है।।४३।।

व्याख्यार्थ : 'अवध्याय' यह पद 'ध्यै' चिन्तायाम् धातुसे ''अव'' उपसर्गके साथ लोट् लकारका मध्यम पुरुष है, यहां 'त'का आदेश नहीं हुआ हैं. 'अवध्यान'का अर्थ विरुद्ध ध्यान अर्थात् विरुद्ध शंका वा विचार. 'अपि' पद यहां सम्भावना अर्थमृ दिया है. 'अस्मान्' पदसे सूचित किया है कि बलभद्र और उद्धव आदि सबके साथ हम पर यह दोषारोपण नहीं करना, कि ये कृतघ्न हैं, क्यृकि यह सम्भावना तब बन सकती है, जब कि जीव स्वतन्त्र हो, अपनी इच्छासे सब कुछ कर सकता हो, यह तो पराधीन है, क्यृकि भूतमात्रको भगवान् ही अपनी इच्छासे मिलाता है वा पृथक् कर देता है इसलिए हम आपको छोड़ कर मथुरा गए ऐसी शंका कभी नहीं करनी।।४३।।

आभासार्थ : जिस पक्षमृ भगवान्मृ जार बुद्धि है, तब ऐसे वचन, कि प्राणी ही जार हैं यृ कैसे मिलाप और वियोग होता है? इसका उत्तर 'वायुर्यथा' श्लोकमृ देते हैं :

वायुर्यथा घनानीकं तृणं तूलं रजांसि च ।
संयोज्याक्षिपते भूयस्तथा भूतानि भूतकृत् ।।४४।।

श्लोकार्थ : जैसे पवन, मेघ, तृण, रुई और रजको मिलाकर अलग कर देता है, वैसे ही काल-भगवान् भी भूतृको मिलाता है एवं अलग करता है।।४४।।

व्याख्यार्थ : जिस तरह वायु मेघके समुहको अलग करता है और फिर मिला भी देता है, तिनकृको, कपासके पिण्डको और पृथ्वीकी रजको भी मिलाता और पृथक् कर देता है, ये चारृ पदार्थ वायुद्वारा मिलते भी हैं, अलग भी होते हैं, इनमृसे तीन तिनके, कपास और रज राजस, सात्त्विक और तामस है शेष मेघ निर्गुण हैं, इसी प्रकार चार भूत भी काल द्वारा मिलते और अलग होते हैं इस कारण कालके आधिन होनेसे मिलने और बिछडनेका किसीको उपालम्भ

(उल्हाना) नहीं देना चाहिए।।४४।।

आभासार्थ : यदि परमार्थ बुद्धि युक्त है तो इस पर कहते हैं :

मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ।।४५।।

श्लोकार्थ : प्राणीमात्रको मुझमृ की हुई भक्ति मोक्ष देनेमृ समर्थ है, अतः बधाई है, जो मेरी प्राप्ति करनेवाला मेरा स्नेह आप लोगृको प्राप्त हुआ है।।४५।।

व्याख्यार्थ : हार्दिक प्रेम युक्त शास्त्रमृ कही हुई सेवादिको भक्ति कहा जाता है, अथवा प्रत्येक इन्द्रियृकी भगवान्मृ ऐसी सहज वृत्ति हो, कि भगवान्से हम पहले मिले, वह भक्ति है, ऐसी भक्ति मोक्ष करानेवाली है अर्थात् ऐसी भक्तिसे मोक्ष प्राप्त होता है, भक्तिसे मोक्ष, भूत मात्रको मिलता है, इससे किसी प्रकारका दूसरा कोई भेद नहीं है. जैसे मर्यादा मार्गमृ ब्राह्मणकी मुक्ति हो सकती है, भक्तिमार्गमृ यृ नहीं है. 'भक्ति' सर्व प्राणीमात्रको मोक्ष देनेमृ समर्थ है. उसको ज्ञानकी तरह न कर्मकी अपेक्षा है और न अन्तःकरणकी शुद्धिकी आवश्यकता है, इसलिए भक्तृको मोक्ष अत्यन्त कठिनतासे प्राप्त नहीं होता है, बल्कि सरलतासे मिल जाता है. तुमको तो उनसे भी विशेष सरलतासे, अतः बधाई है, कारण कि, आपका मेरेमृ सहज स्नेह है, लौकिक स्नेह जो है वह तो कामकृत होता है 'काममय पुरुष' इस वाक्यानुसार सहज ही कृत्रिम हो जाता है. जो स्नेह वैध अर्थात् विधि अनुसार है, वह सहज मेरे सम्बन्धवाला नहीं होता है, कारण कि भगवान्से व्यवहार्य नहीं हो सकता है. प्रकृतमृ तो देव गतिसे आपका स्नेह मत्सम्बन्धी(मुझसे सम्बन्धवाला) हो गया है जिसका फल मेरी प्राप्ति है अर्थात् मुझमृ 'सायुज्यमुक्ति' प्राप्ति होती है, अमृतत्वका तात्पर्य है ब्रह्मभाव, पुरुषोतमभाव वा मद्भाव उसकी विलक्षणता पूर्व ही कही है।।४५।।

आभासार्थ : वे भगवान् कैसे हैं? जिनको स्नेह ही प्राप्त करा सकता है, कर्म ज्ञानादि कोई साधन उनकी प्राप्ति नहीं करा सकता है जो 'अहं' श्लोकसे बताते हैं :

अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः।
भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः ।।४६।।

श्लोकार्थ : हे अंगनाओृ! जिस तरह भौतिक पदार्थोंकी आदि-अन्त,

बाहर-भीतर सब पांच भूत(आकाश, जल, पृथ्वी, वायु और तेज) हैं, वैसे मैं ही सर्वभूतॄकी आदि-अन्त, बाहर और भीतरमॄ व्याप्त हूँ।।४६।।

व्याख्यार्थ : मेरी प्राप्तिकेलिए स्नेहका केवल आवरण दूर करनेके सिवाय अन्य किसी प्रकारका प्रयास नहीं है. यॄ सिद्ध करनेकेलिए भूतॄके चारॄ तरफ अर्थात् आदिमॄ अन्तमॄ, बाहर और भीतर मैं ही स्थित हूं यॄ कहना उचित ही है. जो वस्तु व्यापक है वह परिच्छिन्न पदार्थमॄ इसी तरह ही रहती है, उत्पत्तिसे पहले और नाशके बाद भी मैं ही हूं यॄ कहकर कालके परिच्छेदमॄ भी अपना अस्तित्व सिद्ध किया है तथा देश परिच्छेदमॄ भी बाहर और भीतर कहकर अपना अस्तित्व कहा है, अर्थात् आप सबमॄ सदैव स्थित है जिससे कोई भी पदार्थ जीव आदि आपसे कभी पृथक् नहीं है. संघाताभिप्राय यह अणु जीवके अभिप्रायसे भी कहा है, इस विषयमॄ पांच महा भूतॄका दृष्टान्त देते हैं-आकाश और जल ये दो साथमॄ क्रमसे तामस और राजस भाव बतानेकेलिए कहा है, वैसे ही पृथ्वी और वायुका सृष्टि और प्रलय भेदसे क्रम पूर्वक दो कहे हैं मध्यमॄ सात्त्विक तेज कहा है, इस प्रकार क्रम कहनेका आशय स्पष्ट करते हुए कहते हैं, कि जैसे शरीर सर्वतो व्याप्त है उसमॄ इन्द्रिय और प्राण लगे हुए हैं और मध्यमॄ चैतन्य रहता है यह जतानेकेलिए ही आदि तथा अन्तमॄ तामस उससे ही मिले हुए राजस और मध्यमॄ सात्त्विक तेज कहा है. अंगना यह सम्बोधन, उतमांगत्वके कारण विश्वासकेलिए कहा है।।४६।।

आभासार्थ : इस प्रकार चारॄ तरफ केवल वेष्टित होनेसे अपना जीवॄका अथवा जगत्का भेद कहा उसका 'एवं' श्लोकमॄ निराकरण करते हुए केवल आत्मप्रतिपति(बुद्धि) है यह सिद्ध करते हैं :

एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्मतया ततः।
उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे ।।४७।।

श्लोकार्थ : जैसे भौतिक घट-पट आदि पदार्थोंकी आत्मा(शरीर) भूतॄसे उत्पन्न होती है, फिर भूतॄमॄ ही लीन हो जाती है, वैसे ही कार्य कारणात्मक जगत् अन्तमॄ मुझमॄ ही लीन हो जाता है, यह सर्व अक्षरमॄ लीन होते हैं. यह आप देखो, यॄ कहकर गोपियॄको सर्व वस्तुकी ब्रह्मरूपता बताई. इसी तरह बताकर गोपियॄको सर्व वस्तुकी भगवद्रूपता कही है और यों सिद्ध कर स्नेहको ही अधिकाररूप कहा है।।४७।।

व्याख्यार्थ : इससे यह समर्थित होगा कि प्रमेय भगवान् हैं. पूर्व लोकमृ चारृ तरफ भूत कहे हैं. भौतिक पदार्थके काल परिच्छेद और देश परिच्छेदमृ मध्यभावका निरूपण नहीं किया. मध्यभावका क्या रूप है? इस आकांक्षामृ कहते हैं कि भौतिक पदार्थोंके मध्यमृ भी भूत ही है. नदीमृ डूबे हुए घड़ेकी भांति स्थित हृगे यृ पिण्डकारणपनसे स्थित रहृगे इसलिए घटको जलात्मता नहीं होगी, जिसके कहनेका भावार्थ यह है कि घट पट आदि पदार्थ जो भूत नामसे कहे जाते हैं ये स्वरूपपनसे जो महाभूत आकाशादि हैं वे ही भौतिक पदार्थोंमृ हैं अन्य कोई वस्तु नहीं है, अतः जगत्को पंचमहाभूतृका ही रूप कहा है. यृ समझाकर बादमृ कहते हैं कि यह जो 'कार्य' और 'कारण' भावको प्राप्त भूत मात्र है, उसके 'आदि', 'अन्त', 'भीतर' और 'बाहर' तथा उसका रूप भगवान् ही है यह निरूपण करते हुए कहते हैं, कि 'तत उभयमयि' 'तत' पदसे अनन्तर अर्थवाला क्रम निरूपण किया है. 'एतत् मयि' इस पदसे यह समझाया है कि ब्रह्माण्डके भीतर जो भूत और भौतिक है वह पुरुष 'पर' है और ब्रह्माण्ड पक्षमृ 'काल' 'पर' है. अथ उसके बाद काल सहित जो कुछ भी कार्यरूप है, वह पूर्वकी तरह 'पर' जो मैं हूं उसमृ है. मैं ही उनके आदि, मध्य और अन्तमृ रहता हूं. इतने तक दूर भी मेरा स्वरूप है यृ कहकर उसका अनुभव कराते हैं. 'पश्यत' दर्शन करिए, क्या देखृ? इस आकांक्षामृ क्रमके निरूपणका त्याग कर फल बताते हैं, यह सर्व अक्षररूपमृ प्रकाशित हो रहा हैं, इससे जगत् ब्रह्मभाव भी निरूपण किया. जीवके भी पृथकभावका निराकरण करनेसे अपनेमृ प्राप्तिका मानृ अधिकार निरूपण कर दिया है।।४७।।

आभासार्थ : उससे कौनसा अधिकार प्राप्त हुआ इस आकांक्षाका 'अध्यात्म शिक्षया' श्लोकमृ श्रीशुकदेवजी उत्तर देते हैं :

श्रीशुक उवाच

अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः।
तदनुस्मरणध्वस्त–जीवकोशास्तमध्यगन्।।४८।।

श्लोकार्थ : भगवान्ने गोपियृको अध्यात्म शिक्षा दी, जिसका स्मरण करती हुई गोपियृने अन्नमयादि कोशृको त्याग कर भगवान्को पाया, जब कोशाध्यास नष्ट हुआ, तब सर्वात्मभावसे भगवान्के दर्शन करने लगीं।।४८।।

व्याख्यार्थ : अध्यात्म शिक्षा 'आत्मा' ब्रह्म है, युक्ति पूर्वक ऐसी

शिक्षाको अध्यात्मा शिक्षा कहा जाता है. भगवान्‌की दी हुई इस प्रकारकी शिक्षासे गोपियां ब्रह्मभावको प्राप्त होने पर भी, शिक्षा देनेवाले भगवान्‌को स्मरणसे अथवा जो ज्ञानकी शिक्षा मिली उसको बार बार स्मरण करनेसे, जीवकोशाृको नष्ट कर, भगवदर्शन एवं मिलनमृ रुकावट करनेवाले अपने उपाधिरूप लिंग शरीरका त्याग कर भगवद्रूप हो गईं. जैसा भगवान्‌का आनन्दमय रूप है वैसी ही यह भी हो गई. उससे अन्तःपूर्ण भगवान् ही हो गई. कोश स्थानीय भगवान् आधिदैविक है अथवा सहज सर्व शक्ति हो गईं. देहमृ तो भगवदंश व्याप्त हो गया इसलिए नष्ट न हुई।।४८।।

आभासार्थ : प्रतिबन्धकपनके अभावार्थ भगवान्‌की प्रार्थना करती है :

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः ।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं गेहं जुषामपि मनस्युदियात्सदा नः ।।४९।।

श्लोकार्थ : हे कमलनाभ! अगाध बोधवाले योगेश्वर, जिस चरण कमलका हृदयमृ धारण कर चिंतन करते हैं और जो चरण कमल संसाररूप कूप(कुए)मृ पड़े हुए पुरुषाृका आश्रय है, वह चरण कमल घरका सेवन करनेवाली हम हैं, तो भी सदैव हमारे मनमृ प्रगट होकर विराजे।।४९।।

व्याख्यार्थ : भक्ताृकी इस प्रकारकी स्थिति तथा ऐसा भाव उत्तम है. हम ब्रह्मभावको प्राप्त हो गई हैं, इन्द्रिय वर्गसे भी अतीत हो गई हैं, अतः अवतारी आप पुरुषोत्तमका चरण युगल सर्वदा इस आधिदैविक मनमृ स्फुरित होता रहे. तावता(तब तक) यह अवस्था स्थिर रहेगी. इसके अभाव होने पर, ब्रह्मभावका प्राप्त होनेवालेको भी सर्व दोष घेर लेते हैं. इस आशयसे कहती हैं कि हे पद्मनाभ! आप पद्मनाभ होनेसे ब्रह्मादिके उत्पन्न कर्ता हैं उसकी अनुवृत्तिसे ही जीवाृकी स्थिति है अथवा ब्रह्मभाव स्तब्धता आ जाने पर कृतघ्नता होती है. वह न होवे, इसकेलिए प्रार्थना की है, प्रार्थना क्याृ? उपाय द्वारा आविर्भाव कराओ यदि याृ कहो तो हमारा उत्तर यह है, कि आपका चरण कमल ही संसार कूप(कुए)मृ पड़े हुए जनाृका वहांसे निकालनेका आश्रय है, अर्थात् वे ही निकाल सकते हैं दूसरा कोई उपाय नहीं है क्याृकि अगाध बोधवाले योगेश्वर भी इनका हृदयमृ चिन्तन करते रहते हैं. संसार कूप ऐसा हैं जिससे निकलनेका कोई साधन नहीं है ऐसे कूपमृ जो गिरता है, 'इस कूपमृ गिरनेका कारण यह है कि यद्यपि दूर और उच्चस्थान पर खड़ा है, किन्तु पाप कर्मसे नीचे संसार कूपमृ गिर जाता है' उस

संसार कूपमृ गिरे हुए पापीका वहांसे निकल कर वैकुण्ठ पदके आरोहण आश्रय(साधन) आपके चरण युगल ही हैं. ऊपर जानेकेलिए कर्म, ज्ञान आदि साधन निष्फल हैं तब वह आश्रय ढूंढता है, अपने लिए बाधान्तरकी सम्भावनाको कहती हैं कि, देह है, इसलिए देहधारी हैं. जिसे गृहमृ रहना पड़ता है, उसे गृहमृ रहनेसे पूर्वकी तरह प्राकृतपन हो जाएगा, यह ही कूपमृ गिरना है. 'अपि' पदसे सूचित किया है, कि कदाचित् आपकी कृपासे देहसे सम्बन्ध न होवे, तो किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं हो, हम सबके मनमृ वह चरण कमल सदा प्रगट हो कर रहे इस प्रकार निष्कामपनसे गोपियां मुख्य भक्त हुई. कामके निवारणकेलिए ज्ञानका उपदेश दिया यो निरूपण किया है।।४९।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कंधके ७९वृ अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी(संस्कृत–टीका)के सात्त्विक फल
अवान्तर प्रकरणके पंचम् अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण

अध्याय ८०

भगवान्‌की पटरानियोंके साथ द्रौपदीकी बातचीत

चतुस्त्रिंशे साधनानां मुख्यसाधनमीर्यते।
कीर्तनं सरसत्वाय स्त्रीभिः स्त्रीणां निरूप्यते।।का.१।।

कारिकार्थ : उत्तरार्धके इस ३४वें अध्यायमें साधनोंमें जो मुख्य साधन है, वह कहा जाता है, वह उत्तम साधन रसवाला भगवत्कीर्तन है, जिसको स्त्रियां मिलकर परस्पर कहती हैं अर्थात् भगवत्कीर्तन ही उत्तम साधन समझ मिलकर करती हैं।।१।।

सर्वसाधनसंपत्तिः कृष्णानुग्रहपूर्विका।
तदभावे नैव सिद्ध्येदित्यनुग्रहवर्णनम्।।का.२।।

कारिकार्थ : श्रीकृष्णका जब अनुग्रह होता है, तब सर्व साधन सम्पत्ति प्राप्त होती है, अर्थात् सब साधन कर सकते हैं. यदि श्रीकृष्णका अनुग्रह न हो, तो न तो साधन सम्पत्ति ही प्राप्त होती है और न कर ही सकते हैं, इसलिए उनके अनुग्रहका वर्णन किया जाता है।।२।।

अनुग्रहस्य स्थिरता सद्‌बुद्ध्यैव हरौ भवेत्।
माहात्म्यज्ञानतः पुष्टा स्तुत्या कार्यक्षमा भवात्।।का.३।।

कारिकार्थ : हरिमें अनुग्रहकी स्थिरता सद्‌बुद्धिसे ही होती है, वह सद्‌बुद्धि भगवान्‌के माहात्म्य ज्ञानसे पुष्ट होती है और वह तब होती है, जब प्रथम भगवान्‌की स्तुति यशोगान करे, जिससे प्रभु प्रसन्न होकर कार्य करनेकी सामर्थ्य दें, तब ही सद्‌बुद्धि परिपक्व हो जाती है।।३।।

सर्वशक्तियुक्त कृष्णः श्रोतव्य इति सिध्यति।
शक्तीनामप्यभीष्टश्च सज्ज्ञानस्तुतिभावितः।।का.४।।

कारिकार्थ : इससे यह सिद्ध होता है, कि सर्वशक्तियुक्त भगवान्‌के चरित्रादि श्रवण करने चाहिए, ज्ञानपूर्वक स्तुतिसे ऐसी भावना उद्‌भुत होवे, तो शक्तियोंका भी अभीष्ट सिद्ध होता है, यहां शक्तियां महर्षि हैं, वे भावना करते हैं, जिससे उनके अभीष्टको देनेवाले भगवान् ही स्वयं होते हैं।।४।।

कारिकार्थ सम्पूर्ण.

आभासार्थ : पूर्वाध्यायमें गोपियोंका उपदेश कहा और प्रार्थना कही शेष

अनुग्रह रह गया, वह यहां, उन पर अनुग्रह करते हुए प्रसंगसे दूसरा पर भी अनुग्रह किया, यह 'तथानुगृह्य' श्लोकमा वर्णन करते हैं :

श्रीशुक उवाच

तथानुगृह्य भगवान् गोपीनां स गुरुर्गतिः ।
युधिष्ठिरमथापृच्छत्सर्वांश्च सुहृदोऽव्ययम् ।।१।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि गोपीजनाके परमगुरु और शरणरूप भगवान् उन पर इस प्रकार अनुग्रह कर, पश्चात् युधिष्ठिरसे और सर्व अन्य सुहृदासे कुशल पूछने लगे।।१।।

व्याख्यार्थ : उन्हाने(गोपियाने) जिस प्रकार प्रार्थना की थी, उसी तरह उनके हृदयमा भगवान् अपना चरणारविन्द स्थापन कर, अनन्तर युधिष्ठिरसे पूछने लगे, भगवान्ने गोपिया पर इस प्रकार अनुग्रह किया जिसका कारण कहते हैं, कि गोपियाके वे ही गुरु, आश्रय और फल हैं. भगवान् ही फल और साधनरूप होनेसे उनके लिये कोई अन्य उपाय नहीं है, अतः अपने चरणारविन्द स्थापित किये यह भावार्थ है. गोपिकाएं उत्तम अधिकारिणियां हैं और पुष्टिमा(अनुग्रहमा) स्थित हैं. इनके बाद मर्यादामा युधिष्ठिर श्रेष्ठ है, इसलिए इनके अनन्तर युधिष्ठिर पर अनुग्रह किया. पश्चात् सर्व सुहृदासे भी कुशल आदि पूछे, इससे जाना जाता है, कि प्रथम मनसे इनका भी ज्ञानोपदेश किया, उनसे फिर पूछना स्थिरीकरणकेलिये है, इससे जो भी उत्तमादि थे उन सब पर ही अनुग्रह किया या कहा।।१।।

आभासार्थ : अनन्तर वे सब अपना अधिकार प्रकट करते हुए 'त एवं' श्लोकसे उत्तर देने लगे :

त एवं लोकनाथेन परिपृष्टाः सुसत्कृताः ।
प्रत्यूचुर्हृष्टमनसस्तत्पादेक्षाहतांहसः ।।२।।

श्लोकार्थ : लोकपति हरिसे इस प्रकार अति आदर करके पूछे हुए, वे भगवान्के चरणाके दर्शनसे निष्पाप और प्रसन्न चित्त हो, उत्तर देने लगे।।२।।

व्याख्यार्थ : भगवान्ने कुशल आदि पूछे इससे महान् संतोष हुआ, महान् पुरुष यदि केवल कुशल प्रश्न पूछा तो वह भी सन्तोष कारक है, यहां तो उससे भी अधिकता है. जो आसन आदि देकर सत्कार किया, इससे कायिक पूजाका निरूपण किया. पश्चात् उत्तर देने लगे,(पूजित वाणीको कहने लगे) काया, वाणी और मनसे गुणाका वर्णन कर अपने दोष नष्ट हो गए वह बताते हैं,

कि आपके चरणाविन्दके दर्शनसे हमारे सब पाप नष्ट हो गए।।२।।

आभासार्थ : भगवान्ने जो कुशल पूछा है? इस विषयका 'कुतोऽशिवं' श्लोकसे उत्तर देते हैं :

सुहृदः ऊचुः

कुतोऽशिवं त्वच्चरणाम्बुजासवं महन्मनस्तो मुखनिःसृतं क्वचित् ।
पिबन्ति ये कर्णपुटैरलं प्रभो देहंभृतां देहकृदस्मृतिच्छिदम् ।।३।।

श्लोकार्थ : हे प्रभु! आपके चरणारविन्दका रस जो कि कभी महान् पुरुषाके मन द्वारा उनके मुखासे प्रकट हुआ है, वह देहधारियाके देहाभिमान करानेवाली अविद्याको काटनेवाला है, उसे जो कर्णरूप दोनासे पीते हैं, उनका अमंगल कैसे वा कहांसे? अर्थात् अमंगल है ही नहीं।।३।।

व्याख्यार्थ : कुशल प्रश्न तब किया जा सकता है जब कि अकुशलकी सम्भावना होवे. जहां अकुशलकी सम्भावना मात्र भी नहीं, वहां कुशल प्रश्न करना व्यर्थ है. यद्यपि संसारीपनसे अकुशलकी सम्भावना हो सकती है, तो भी सर्व प्रकारके अकुशलाके निवृत्त करनेवाले साधनका निरन्तर अनुष्ठान होते रहनेसे अकुशल कहां? इस अभिप्रायसे कहते हैं, कि 'कुतः अशिवं' वह कौनसा साधन है? इस आकांक्षाके होने पर कहते हैं, कि आपके चरणारविंदका आसव जो महान् पुरुषाके मनसे मुख द्वारा प्रकट हुआ है, वह ही साधन है. परमानन्द स्वरूप आपका चरण भक्तिमार्गका प्रवृत्त करनेवाला है, वह कमलरूप होनेसे, गुणसे सेव्य है. उन चरणाम्बुजमा जो मकरन्दरसात्मक भगवान् है, वह सर्वत्र[१] ही व्याप्त है, ब्रह्मानन्द ही मार्गान्तरसे(भक्तिमार्गसे) लाया हुआ देहादिके अभिमानियाके देहादिको भुला देनेवाला होनेसे 'आसव'[२] शब्दसे कहा जाता है, वह सहज ही परमानन्दरूप और अन्य दोषाको मिटानेवाला है. वहां भी, यदि उससे भी उत्कृष्ट रससे मिल जावा तो क्या कहना चाहिए? रसान्तरसे पुष्ट होकर परमानन्द देता है, या कहनेकेलिए ही कहते हैं कि 'महन्मनस्तः' यहां यह भक्तिमार्गका सिद्धान्त है. ब्रह्मानन्दरस और भक्तिरसको समझाते हैं, कि ब्रह्मानन्द अपनी इच्छासे वस्त्रकी तरह संकुचितात्मा शत प्रकारसे गुणितकी तरह घनीभूत हो परिणाम प्राप्त दधिके समान कम न होकर घन हो जाता है. तद्रूप भगवान्का वह चरणाविन्द जब भक्तिमार्गसे गृहित होता है तब भगवद्भक्ताको काया, वाणी और मनसे दृढ़ भावसे ग्रहण किया हुआ, रसात्मक होनेसे भक्ताके यहां आनन्दरूप हो स्रवित

(टपकता) है, न कि ज्ञानियॄके पास जैसे घन होके रहता है, वैसा रहता है स्रवित(टपकने)से भक्त उसका सरलतासे पानकर आनन्दमय हो जाते हैं. यह भक्तिरस है, जो रस ज्ञानमार्गमॄ नहीं है. वह भक्तिरस भी, शब्द ब्रह्मरूप भागवतादिमॄसे ऐसे उद्धृत(ली हुई) है, जैसे घटमॄ उद्धृत जल है वह उससे छिद्रॄ द्वारा बाहर आता है तब मनुष्य पान कर आनन्द लेते हैं. वैसे ही भागवतादिमॄ उद्धृत भक्तिरसको जब महान् पुरुष श्रवण, स्मरण और कीर्तन करते हुए मुखरूप छिद्र द्वारा बाहर प्रकट करते हैं, तब भक्तजन उस स्रवित भक्ति रसको अपने हृदयरूप हृद(कुंड)मॄ प्रवेश कराते हैं तब वह रस भक्ति रससे भी अधिक रसप्रद होता हैं, क्यॄकि भक्तॄकी इन्द्रियॄसे पवित्र होकर निकलनेसे उसमें विशेष रस उत्पन्न होता है. यॄ होने पर जब-जब बार-बार भक्तिमार्गके अनुसार, गुढार्थरूप चरणाविन्दके मकरन्दरूप, भगवद्गुणॄको गाते हैं, तब महान् पुरुषॄके मनमें, महतॄके मनमॄ स्थित होकर मुखसे निकलता है. यह निकलना भी जब कभी(चाहे जब) साधारणतया नहीं होता है, किन्तु कदाचित् ही कभी भक्तॄका अत्यन्त संग होते हुए भी कदाचित् ही रसका आविर्भाव होने पर वह आविर्भूत रस जो भाग्यशाली हैं, वे कर्णरूप दोनॄ(दूनॄ)से खूब पीते हैं. यह जो दुर्लभ रस है वह बहुत पीनेमॄ कैसे समर्थ हॄगे? जिसके उत्तरमॄ कहते हैं, हे प्रभु! प्रभु सर्व समर्थ हैं ऐसे तो कोटिशः भक्त हैं, जैसे मधुमक्खी महान् क्लेशसे पुष्पॄका रस थोड़ा-थोड़ा लेकर कहीं धर लेती है प्रभुके तो मधुसे भरे हुए कोटिशः कलश है, अतः भगवदाश्रयमॄ बहुत ही वैसा रस पिया जा सकता है. ऐसी अवस्थामॄ अशुभकी सम्भावना भी कैसी? अशुभ तो धर्मसे ही निवृत्त हो जाता है पश्चात् ज्ञान द्वारा वासना सहित अविद्याकी निवृत्ति होती है फिर केवलात्मा जीवात्मा भगवन्निष्ट होता है. तब आनन्द घन परमात्मा प्रकट होता है, वहां भक्तिसे सर्वदोषॄको निवृत्त करनेवाला, नित्य संसारके विस्मरणका हेतु भक्ति रस उत्पन्न होता है. पूर्व कही हुई प्रणालिकासे उस रसको नित्य पान करनेवालॄको अशुभ सम्भावना भी बाधित हो जाती है, और विशेष यह है, कि प्रयत्न मात्रसे गृहित देहमॄ अभिमान होते हुए भी देहकर्त्री स्मृतिको भी तोड़ देता है, जब मूल ही नष्ट हो जाता है तब देह कृत संभावना भी नष्ट हो गई।।३।।

१. न केवल अधरमॄ ही हैं, यह नियम नहीं है.

२. भक्ति मार्गमॄ भक्तॄको सेवोपयोगी देह होती है, जिसमॄ उनका अभिमानादि ममत्व

रहता है, उसको चरणाविन्दका रसानन्द भुला देता है इसलिए उसको 'आसव' कहा है. ज्ञानियाृको तो देहाभिमान नहीं रहता है इसलिए वहां ज्ञानमार्गमृ 'आसव' वत कार्य नहीं होता है जिससे इस पादाम्बुज रसको आसव नहीं कहा जाता है.

आभासार्थ : याृ प्रश्नोत्तर कहकर, भगवान्को अपने चिकीर्षितकी प्रार्थना 'हित्वात्म' श्लोकसे करते हैं :

हित्वात्मधाम विधुतात्मकृतत्र्यवस्थमानन्दसंप्लवमखण्डमकुण्ठबोधम् ।
कालोपसृष्टनिगमावन आत्तयोगमायाकृतिं परमहंसगतिं नताः स्मः ।।४।।

श्लोकार्थ : अपने गृह और अन्तःकरणमृ उत्पन्न होनेवाली जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति रूपा तीन अवस्थाआृका त्यागकर, सकल आनन्दके पूररूप, अपरिच्छिन्न और अकुण्ठित ज्ञानरूप तथा सर्व धर्मोंके नाश हो जाने पर उनकी रक्षाकेलिए योगरूप अपनी मायारूप इच्छा शक्तिसे आकृतिको धारण करनेवाले, परमहंसोके गतिरूप आपको हम प्रणाम करते हैं।।४।।

व्याख्यार्थ : 'आत्मधाम' अपने गृह आदिको अथवा देहका त्यागकर, परमहंसाृकी गति जो आप हैं, उनको हम नमन करते हैं, याृ अन्वय है. जैसे कोई पूर्वभावका परित्याग कर, उत्तर भावको ग्रहण करनेकेलिए उसके दाताको नमस्कार करेगा. 'हि' 'त्वा' दो पद हैं, अतः इसका अर्थ आत्माका भी तेजोरूप तुमको हम नमन करते हैं. इस पक्षमृ दोषाभाव, पूर्व कहे हुएका ही अनुसन्धान करना चाहिए. जाग्रत आदि तीन अवस्थाआृके विद्यमान(मौजूद) होते हुए, भगवान्को नमनसे क्या लाभ? इस पर कहते हैं, कि ये अन्तःकरणमृ उत्पन्न जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाआृको जिन्हाने दूर किया है, ऐसे हम नमन करते हैं. जहां अहंकारको ही फूका गया है, वहां उससे उत्पन्न जाग्रतादि स्थानाृको दूर करनेमृ कौनसा प्रयास है, केवल अवस्था निवर्तक मात्र नहीं है, ऐसा होने पर बीजमात्र होते हुए भी उसी अवस्थाका भाव रहता है, इसलिए भगवान्की क्या विशेषता हुई? इस पर कहते हैं, कि भगवान्मृ आनन्दका महापूर है, जो सबको बहाकर दूर फूक देता है. यदि वह पूर परिछिन्न है तो दोष वैसा ही रहेगा, इसके उत्तरमृ कहा है कि परिच्छिन्न नहीं है किन्तु अखण्ड है, तो भी यदि लोकमृ वह परमानन्द अज्ञात है तो कोई पुरुषार्थ नहीं, सुषुप्तिमृ ऐसा देखा जाता है अतः वह भी अपुरुषार्थ ही होगा, इस पर कहते हैं कि नहीं उनका ज्ञान सर्वत्र है रुका हुआ नहीं है अतः उस आनन्दरूपका सर्वत्र अनुभव हो सकता है. ऐसा

केवल श्रुतिसे ही समझने योग्य तथा अपने अनुभवसे ही प्रकट ब्रह्मानन्द ही है न कि जो प्रकट देखनेमॅ आता है वह भगवान्? यदि यॅ कहते हो, तो इसका उत्तर देते हैं कि 'कालोपवृष्टनिगमावने आतयोगमायाकृतिं' जब काल वेदॅका नाश कर देता है, तब वेद प्रतिपाद्य समस्त धर्मोंको तथा उनके सर्व धर्मोंकी भी रक्षा वास्ते वह ही पूर्ण परब्रह्म, अपनी योगमायासे स्वरूपको धारण कर प्रकट होकर दर्शन देते हैं, न कोई दूसरा, जब यॅ है, तो सब क्यॅ नहीं? यॅ समझते हैं, यॅ कहो तो इसका उत्तर यह कि 'परमहंसगतिं' जो संसारसे आत्माका पृथक् भाव जानते हैं और करनेकेलिए समर्थ हैं, वे 'हंस' हैं, उससे भी जो, जीवॅकी गति और भगवान्की गतिका विवेचन करना जानते हैं वे परमहंस हैं, वे ही उनको जान सकते हैं, अतः अपने भजनके अनुकूल कितने धर्म जाने, इस प्रकार वैसे ही भगवद्भावकेलिए हम तुझे प्रणाम करते हैं, यॅ तात्पर्य है।।४।।

आभासार्थ : इसी तरह पुरुषॅके सर्वभावकी प्रपत्ति कहकर स्त्रियॅको भी साक्षात् भगवत्प्रपत्तिकेलिए पुरुषद्वारा होते हुए भी वैसी प्रतिपत्ति भगवान्की स्त्रियॅमॅ दीखती है. यॅ उसका मूल कारण पूछनेकेलिए सब स्त्रियां एकट्ठी हुईं, पश्चात् उनसे सुनकर और स्वयं वैसी ही हुईं. यॅ सर्व स्त्रियां पुरुषकी भांति ही हैं, इनका जो इतिहास है वह 'इत्युत्तम' श्लोकसे कहते हैं :

श्रीशुक उवाच

इत्युत्तमश्लोकशिखामणिं जनेष्वभिष्टुवत्स्वन्धककौरवस्त्रियः ।
समेत्य गोविन्दकथा मिथोऽगृणंस्त्रिलोकगीताः शृणु वर्णयामि ते ।।५।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि इस प्रकार पवित्र कीर्ति-पुरुषॅके मुकुटमणि श्रीहरिकी लोक स्तुति कर ही रहे थे, वहां अन्धक(यादवॅकी एक शाखा) और कौरवॅकी स्त्रियां एकत्र हो, त्रिलोकमॅ गाई जाती भगवान्की कीर्तिकी गाथाएं परस्पर करने लगीं, वे मैं वर्णन करता हूं, उसको तुम सुनो।।५।।

व्याख्यार्थ : उत्तमजनॅसे प्रशंसित(बखाने जाते हैं), यॅ उत्तमॅका यह ही प्रयोजन है, अर्थात् लोकमॅ उत्तम पुरुष इसलिए ही जन्मे हैं उससे भी उत्तम कार्य करना चाहिए, इसलिए कहते हैं, कि उत्तमॅसे जो प्रशंसित(बखाने जाते हैं) उनमॅ भी जो मुकुटमणि हैं, वैसे भगवान्की ही सर्व मनुष्य स्तुति करते हैं. स्त्रियॅमॅ उनका पूर्ण ज्ञान न होनेसे, उसको जाननेकेलिए यादव और कौरवॅकी स्त्रियां आकर आपसमॅ गोविन्दकी कथाएं कहने लगीं, वे कथाएं तेरेलिए वर्णन करूंगा

यों प्रतिज्ञा करते हैं. इस वर्णनसे क्या लाभ होगा? इस पर कहते हैं कि 'त्रिलोकगीताः' वे कथाएं तीनूं लोकोंमें गाई जाती हैं इसलिए, सावधान होकर सुन, यह सात्त्विक साधन है।।५।।

आभासार्थ : वहां पहले 'वैदर्भी' श्लोकसे द्रौपदीका प्रश्न कहते हैं :

द्रौपद्युवाच

हे वैदर्भ्यच्युतो भद्रे हे जाम्बवति कौसले।
हे सत्यभामे कालिन्दि शैब्ये रोहिणि लक्ष्मणे ।।६।।

श्लोकार्थ : द्रौपदी कहने लगी कि हे रुक्मिणी! हे भद्रे! हे जाम्बवति! हे कौसले! हे सत्यभामा! हे कालिन्दी! हे शैब्या! हे रोहिणी! हे लक्ष्मणा! ।।६।।

व्याख्यार्थ : श्रीकृष्णकी आठ पटराणियोंमेंसे प्रत्येकका संबोधन है और अन्योंका समुदायसे संबोधन दिया है, सर्वभावसे भगवद्गुणगानकेलिए यों किया है. मूल प्रकृति लक्ष्मी है, पश्चात् रुक्मिणी आदि आठ प्रकृतियां हैं, उनके बाद षोडश विकारोंके हजारों कार्य(प्रकृतियां) हैं, इन सब प्रकृतियोंमें भगवान्की जो लीलाएं हैं अथवा जैसे उनका परिग्रह किया है, उनका अनुसन्धान करनेसे कृतार्थता होगी, इसलिए वैसा प्रश्न है. श्रीकृष्णका यहां 'अच्युत' नाम देकर यह सूचित किया है, कि सर्व प्रकृतियोंमें रमण करते हुए भी च्युत(गिरना) नहीं होते हैं. जिससे आपकी जीवसे विलक्षणता कही है. हे भद्रे!, हे जाम्बवति!, हे कौसले!, हे सत्यभामे!, हे कालिन्दि, हे शैब्ये!, हे मित्रविन्दे!, सोलह हजार स्त्रियोंमें रोहिणी मुख्य है, वह ही कल्पान्तरमें आठ पटराणियोंमें भी थी, इस कारणसे ही क्रमदीपिकाओंमें वह ही ग्रहण की है।।६।।

हे कृष्णपत्न्य एतन्नो ब्रूत वो भगवानयम्।
उपयेमे यथा लोकमनुकुर्वन् स्वमायया ।।७।।

श्लोकार्थ : श्रीकृष्णकी रानियों! यह हमें कहो कि अपनी मायासे लोकका अनुकरण करते हुए स्वयं हरि भगवान्ने तुम्हारा पाणिग्रहण किस प्रकार किया? ।।७।।

व्याख्यार्थ : हे श्रीकृष्णकी पत्नियों! यह संबोधन साधारण स्त्रियोंकेलिए दिया गया है, इसके बाद साथमें ही पूछना चाहिए, हमको कहो, क्या कहूं? ऐसी आकांक्षा होने पर कहती हैं, कि इन भगवान्ने जैसे आपका पाणिग्रहण किया, भीतरके भावको उद्भूत कर विवाह किया, यदि यों पूछती हो तो हम कहती हैं,

जैसे लोक करते हैं उसी बाह्य प्रकारसे किया. जो भगवान् सर्वान्तर हैं वे बाह्य प्रकारसे कैसे करूंगे? जिसका उत्तर देती हैं कि 'स्वमायया' असाधारण अपनी मायासे बाहर भी स्वभावको प्रकट करते हैं।।७।।

आभासार्थ : वहां पहले वैदर्भी अपने विवाहका प्रकार कहती है :

रुक्मिण्युवाच

चैद्याय मार्पयितुमुद्यतकार्मुकेषु राजस्वजेयभटशेखरिताङ्घ्रिरेणुः ।
निन्ये मृगेन्द्र इव भागमजावियूथात्तच्छ्रीनिकेतचरणोऽस्तु ममार्चनाय ।।८।।

श्लोकार्थ : रुक्मिणीने कहा कि मुझे शिशुपालको दिलानेकेलिए जरासन्ध आदि राजा धनुष तैयार करके आ उपस्थित हुए थे, उस समय अजेयसुभट लोगोंके सिर पर जिनके चरणोंकी रज मुकुटके समान विद्यमान है, ऐसे हरि सिंह बकरियोंके टोलेमेंसे जैसे अपने भागको ले जाता है, वैसे ही अपने भागरूप मुझको लेकर आ गए. उन लक्ष्मीके निवासरूप हरिके चरणोंकी मैं नित्य पूजा किया करूं।।८।।

व्याख्यार्थ : मेरे पिता वा भाई जब तक शिशुपालको दें, उससे पहले ही, श्रीकृष्ण ले जाएंगे इस शंकासे, उसका निराकरण करनेकेलिए शिशुपालके पक्षवाले राजा लोग धनुष ले तैयार होकर आके उपस्थित हुए. पश्चात् यह विचारणा हुई, कि चैद्यको देंगे वा राजद्वारा मुझे अर्पण की जाएगी, निश्चित न होनेसे, जिनको शूर भी नहीं जीत सकते हैं, वे अजेय भट कहे जाते हैं, 'भट' पदका तात्पर्य है, पैदल सैनिक, यशोगान करनेवाले, दूत वा वैतालिक, इन सबके मुकुटों पर स्थित है चरणरज जिनकी, ऐसे भगवान्को ये क्या जीतेंगे? ये तो दूरसे ही अस्त हैं इससे ही मुझे ले आए. किसी प्रकारकी लेनेमें शंका वा रुकावट न हो सकी. इसको दृष्टान्त देकर समझाती हैं कि जैसे सिंह बकरियोंके झुंडसे अपना भाग ले जाता है, वैसे ही प्रभु भी अपना भाग जो मैं थी उसको ले आए, जो सात्त्विक वा राजस थे वे तो अप्रयोजक थे, इस प्रकार पुरुषोत्तमपन प्रकट किया. मेरे सर्व पुरुषार्थ सिद्ध होवे इसलिए उनका चरण ही मेरी पूजाकेलिए हो, कारण कि उन चरणोंमें सर्व प्रकारके पुरुषार्थ रहते हैं यह प्रत्यक्ष दीखता है, इसलिए चरणोंका विशेषण 'श्रीनिकेत' है, श्रीका यहां सतत निवास है. यह शरीर आपका ही भाग है, इसलिए स्वयं ही इसका उपभोग करेंगे ही. इससे यह सूचित किया है कि इस शरीरमें प्रसंगसे आया हुआ जीव भगवान्की भक्ति ही चाहता है,

याृ निरूपण किया है।।८।।

आभासार्थ : यद्यपि द्रौपदीने गणना बिना क्रमसे की है, तो भी वे स्त्रियां क्रमसे ही अपना वृत्तान्त निरूपण करती हैं, अतः रुक्मिणीके बाद सत्यभामा अपना हाल 'यो मे सनाभि' श्लोकसे कहती है :

सत्यभामोवाच

यो मे सनाभिवधतप्तहृदा ततेन लिप्ताभिशापमपमार्ष्टु मुपाजहार ।
जित्वर्क्षराजमथ रत्नमदात्स तेन भीतः पितादिशत मां प्रभवेपि दत्ताम् ।।९।।

श्लोकार्थ : सत्यभामा कहने लगी कि भ्रातृवध होनेसे सन्तप्त मेरे पिताने जो कलंक श्रीकृष्ण पर लगाया था, उसको मिटानेकेलिए भगवान्ने जाम्बवानको जीतकर, मणि लाकर मेरे पिताको दी, तब उस अपराधसे मेरे पिता डर गए थे, अतः वाग्दान होने पर भी मुझे श्रीकृष्णको अर्पण किया।।९।।

व्याख्यार्थ : सगा भाई यद्यपि दूसरे स्थान पर मरा था, तो भी उसके वधसे सन्तप्त हृदयवाले मेरे पिताने बिना विचार किए भगवान् पर उसके मारनेका कलंक लगाया. उस कलंकको मिटानेकेलिये रीछाृके राजाको जीतकर मणि ले ली. 'अथ' जुदा प्रक्रम करते हैं, वह मणि स्वयं लेकर मेरे पिताको भेट वा उपहाररूपमृ दे दी. झूठे कलंक लगानेसे डरे हुए मेरे पिताने उस रत्न सहित मुझे भी श्रीकृष्णको अर्पण किया. यद्यपि उनको स्त्रियां तो थीं ही तो भी 'प्रभु' जानकर मुझे भी अर्पण किया, यद्यपि मेरा वाग्दान हो चुका था, ऐसा करनेको शास्त्रमृ क्षत्रियाृकेलिए आज्ञा है, जैसे कि कहा है 'दत्तामपि हरेत् कन्यां श्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत्' यदि श्रेष्ठ वर आ जावे, तो वागदान् की हुई कन्या उसको दी जावे, मनुने कहा है कि जो कन्या एकको दी हो वह फिर दूसरेको नहीं देनी चाहिए. कारण कि आगेके ऋषियाृने ऐसा नहीं किया है और न दूसरे करृगे, यह मनुका वाक्य ब्राह्मणाृकेलिए है क्याृकि श्लोकमृ 'ऋषि' पदसे ब्राह्मण कहे हैं. विवाह बान्धवाृकी भी एक राय की जाती है, तभी ही अधिकार है इसलिए अधिकारका सम्पादन करनेकेलिए ही मुझे दिया. अतः मेरे पिताने जो दोष किया था उसको मिटानेका प्रायश्चित्त यह किया कि मुझे कृष्णको अर्पण किया, मैं दोष नाश करनेकेलिए ही हुई, इससे अपनेलिए नहीं रही, इसलिए मैं कुछ कामना नहीं करती हूं. इस कारण ही वह भगवान्को प्यारी है, पिताकेलिए ही वह व्यापृत थी, अतएव उसको स्वर्ग नहीं इसलिए पारिजात ले आए और स्वर्ग दिखाया।।९।।

१.कामना न करनेवालाृको सद्योमुक्ति होती है इसलिए स्वर्ग नहीं.

आभासार्थ : 'प्राज्ञाय' श्लोकमृ जाम्बवतीने इस प्रकार कहा :

जाम्बवत्युवाच

प्राज्ञाय देहकृदमुं निजनाथदैवं सीतापतिं त्रिणवहान्यमुनाभ्ययुध्यत्।।
ज्ञात्वा परीक्षित उपाहरदर्हणं मां पादौ प्रगृह्य मणिनाहममुष्य दासी ।।१०।।

श्लोकार्थ : जाम्बवतीने कहा कि मेरे पिता जाम्बवान्ने प्रथम यह नहीं जाना कि ये मेरे इष्टदेव स्वामी हैं, अतः सत्ताईस दिन तक युद्ध किया, फिर जब जाना कि स्वामी हैं, तब चरणाृमृ गिरकर भृटमृ मणिके साथ मुझे अर्पण किया, अतः मैं तो इनकी दासी हूं।।१०।।

व्याख्यार्थ : जाम्बवतीने कहा कि मेरे पिताने भगवान्को भगवान् न समझ केवल याृ समझा कि वे कोई मनुष्य है. मेरी देहको उत्पन्न करनेवाला होनेसे मेरा पिता है. जब पूर्व जन्ममृ महान् पाप किया जाता है तो उसका फल कन्याका पिता होना होता है, इसलिए ही शास्त्रमृ कहा है, कि कन्याका जन्म दुःखकेलिए ही है– अतः यह भगवान् हैं याृ न जान सका. 'अमु' पदसे यह बताया है कि ओह! यह सामने स्थित तो वास्तविक अपनो आत्मा नाथ, दैव और पूज्य है. वैसे तो यह राम हैं, किन्तु याृ है तो भी सीताके पति हैं. पहले सीताको बहुत दुःख देकर पश्चात् उसको अनेक तरहसे अवतार धारण कराके उसकेलिए स्वयं भी आए हैं. अज्ञान तब तक रहता है, जब तक भगवान्का सांनिध्य नहीं होता है, उसमृ तीन गुणाृके भेद सत्ताईस तत्व हैं, उनके व्यवधान होनेके कारण, भगवान्का अज्ञान रहता है. उस अज्ञानके निराकरण करनेकेलिए इनसे युद्ध करने लगे. युद्ध करनेसे रुकावटृ नष्ट हो गई, परीक्षा भी हो गई, यह ज्ञान हो गया है कि यह ही भगवान् हैं, याृ पूर्णज्ञान प्राप्त कर, पूजा योग्यका चरण पकड़कर अर्थात् चरणाृमृ पड़कर मणिके साथ मुझे भी भगवान्को दे दिया. याृ विवाहका वर्णन कर कामना कहती है, जो निश्चयपूर्वक स्वतन्त्र होता है, वह कामना करता है, मैं तो दासी हूं अतः दास्यके सिवाय दूसरी कामना ही नहीं है।।१०।।

आभासार्थ : अनन्तर कालिन्दी आई, वह 'तपश्चरन्ती' श्लोकसे अपना वृत्तान्त कहती है :

कालिन्द्युवाच

तपश्चरन्तीमाज्ञाय स्वपादस्पर्शनाशया।

सख्योपेत्याग्रहीत्पाणिं याहं तद्ग्रहमार्जनी ।।११।।

श्लोकार्थ : कालिन्दीने कहा कि मुझे अपने चरण स्पर्शकी इच्छासे तपस्या करती हुई जानकर, प्रथम अपने मित्र अर्जुन द्वारा मिलकर, बाद जिन्होंने मेरा पाणिग्रहण किया, उन भगवान्के घरमें सदा सोहनी करने(बुहारा लगाने)वाली दासी मैं हूं।।११।।

व्याख्यार्थ : अर्जुन आदिका भेजना केवल नाट्य था, वास्तवमें तो स्वयं ही आज्ञा कर मित्रके साथ आके पाणिग्रहण करने लगे. इस प्रकार विवाह कर कामना कहती है, मैं जो हूं वह उनके घरकी बुहारी(झाडू) देनेवाली दासी हूं. मुझे तो कामना नहीं है क्योंकि मैं स्वभावसे ही उनके घर मथुराको साफ करनेवाली कालिन्दी हूं. उनका गृह अथवा सूर्य मण्डल उससे शोध कर निकली हूं अथवा गृहदासीपन ही अपना कामित हो गया है, यों निरूपण किया है।।११।।

आभासार्थ : इसके बाद मित्रविन्दा 'यो मां' श्लोकमें अपना वृत्तान्त कहती है :

मित्रविन्दोवाच

यो मां स्वयंवर उपेत्य विजित्य भूपान्निन्ये श्वयूथगमिवात्मबलिं द्विपारिः । भ्रातंश्च मेऽपकुरुतः स्वपुरं श्रियौकः

तस्यास्तु मेऽनुभवम् अंघ्र्यवनेजनत्वम् ।।१२।।

श्लोकार्थ : भद्राने कहा कि लक्ष्मी निवास भगवान् स्वयंवरमें आकर राजाओंको तथा अपकार करनेवाले मेरे भ्राताओंको भी जीतकर, जैसे सिंह श्वानों(कुत्तों)के झुण्डमें गिरे हुए अपने भोज्यको ले लेता है, वैसे ही मुझे वहांसे द्वारका ले आए मैं उनके चरण धोनेवाली दासी सदा ही हूं।।१२।।

व्याख्यार्थ : प्रथम तो मैं स्वयं ही भगवान्में आसक्त चित्तवाली थी तो भी मेरे भ्राता मुझे स्वयंवरमें लाए, तब भगवान्ने स्वयंवरमें आकर सबको जीतकर बुआकी बेटी मैं हूं इसलिए अपना भाग होनेसे, दूसरेका भाग यदि कोई दूसरा ग्रहण करे तो वह श्वान सम होता है इसलिए वे राजा कुत्तोंके समान थे इसलिए इसी प्रकारका दृष्टान्त दिया है जैसे सिंह कुत्तोंके मध्यमें पड़े हुए अपने भागको ले जाता है वैसे ही भगवान् भी नृपरूप श्वानोंके मध्यसे अपने भाग मुझको वहांसे छीनकर द्वारका ले आए. धर्म और भूके रक्षक राजाको भी भगवान् जीतते हैं, इसी प्रकार अपकार करनेवाले मेरे भ्राताओंको भी जीता. यहां 'भ्रातॄन्' बहुवचनका

भावार्थ स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि यद्यपि भगवान्‌के विरुद्ध तो विन्द और अनुविन्द दोनॄ भाई थे किन्तु उनके पक्षमॄ दूसरे भी गोत्रमॄ उत्पन्न बांधव थे, इसलिए 'बान्धव' पद बहुवचन दिया है, 'च' पदसे दूसरे भी जो प्रतिकूल थे उनकी भी सूचना की है. मुझे लेकर सीधे द्वारका आए, यॄ कहनेसे यह बताया है कि मध्यमॄ किसी प्रकारका विघ्न न हुआ. 'श्रियौकः' पदसे नगरकी स्मृद्धि कही है, पश्चात् कामनाका निरूपण करती है, कि मुझे यही कामना है कि मैं जन्म जन्ममॄ भगवान्‌के चरणॄका प्रक्षालन ही करती(धोती) रहूं।।१२।।

आभासार्थ : 'सप्तोक्षणः' श्लोकसे नाग्नजिती अपना वृत्तान्त कहती है:

नाग्नजित्युवाच

सप्तोक्षणोतिबलवीर्यसुतीक्ष्णशृङ्गान् पित्रा कृतान् क्षितिपवीर्यपरीक्षणाय ।
तान् वीरदुर्मदहनस्तरसा निगृह्य क्रीडन् बबन्ध ह यथा शिशवोऽजतोकान् ।।१३।।

श्लोकार्थ : नाग्नजितीने कहा कि मेरे पिताने राजाओॄकी वीरताकी परीक्षा करनेकेलिए बहुत तीखे शृंग, अतिबल और पराक्रमवाले तथा वीर पुरुषॄके दुष्ट अभिमानको उतारनेवाले सात बैल अंकित कर छोड़ रखे थे, उन्हॄ भगवान्‌ने इसी भांति खेल ही खेलमॄ बांध लिया, जैसे बालक बकरीके बच्चॄको बांध लेते हैं।।१३।।

व्याख्यार्थ : बहुत बलशाली पराक्रम तथा बहुत तीखे सींगधारी सात व्यसनरूप बैल, राजाओॄकी शूरवीरताकी परीक्षाकेलिए पिताने तैयार किए. पिताने इनको इसलिए तैयार किया, कि जो व्यसन ग्रस्त होता है वह कैसे भोक्ता बन सकेगा? इसलिए अपनी कन्याका भोग सिद्ध हो, तदर्थ पिताने तैयार किए. व्यसन तीन प्रकारके होते हैं, अतः बैल भी ऐसे निरूपण किए. 'वीर्य' सात्त्विक है, 'बल' तामस है और 'सींग' राजस है. यद्यपि व्यसनॄको धर्म आदि निराकरण नहीं कर सकते हैं, यह जतानेकेलिए उनके ये विशेषण देकर समझाया है कि 'दुर्मदहनः' वीरॄमॄ जो दुष्ट मद है, उसको नाश करनेवाले हैं अतः शीघ्र ही पकड़ लिया, क्यॄकि आप व्यसनॄके ही व्यसन हैं, इस कारणसे मानॄ खेलते ही खेलते लौकिककी तरह ही, उनको पकड़ लिया. 'ह' यह आश्चर्य है. वैदिक युक्तिओॄसे भी जो कठिनाईसे पकड़मॄ आनेवाले हैं, उनको लौकिकसे कैसे हटा दिया? फिर लौकिकमॄ किसी प्रकारका परिश्रम भी नहीं हुआ, जिसको वैसा ही दृष्टांत देकर समझाती है. स्थूल बालक बकरीके बच्चॄको पकड़ते हैं. किन्तु बन्धनकेलिए

डरते हैं, क्यूंकि एकसे नहीं बांधे जाते हैं इसलिए बहुवचन दिया है. व्यसन शान्तिके वास्ते बालक सात तन्तुओंवाले यज्ञको करते हैं, भगवान्ने भी उनका बन्धन ही किया यह ध्वनि निकलती है–अर्थात् ऐसा भाव प्रकट होता है।।१३।।

य इत्थं वीर्यशुल्कां मां दासीभिश्चतुरङ्गिणीम्।
पथि निर्जित्य राजन्यान्निन्ये तद्दास्यमस्तु मे ।।१४।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार जिसका मूल्य पराक्रम ही हैं, उस मुझ दासीका पाणिग्रहण कर जिस मार्गसे पधार रहे थे, उस मार्गमें जो राजा आए, उनको तथा उनकी चतुरंगिणी सेनाको जीतकर, मेरे पिताकी दी हुई दासियां सहित मुझे द्वारका ले आए, उनकी सदा दासी बनी रहूँ।।१४।।

व्याख्यार्थ : पश्चात् अपना अभिलषित सिद्ध होते ही, जिसका शुल्क, वीर्य ही है ऐसी जो मैं हूं, उसको पिताने इनको दासियों सहित अर्पण की थी. मार्गमें राजाओंको तथा उनकी चतुरंगिणी सेनाको जीतकर मुझे अपने गृह (द्वारका) ले आए, अपनी कामना प्रकट करती है कि इनकी ही मैं दासी बनी रहूं।।१४।।

आभासार्थ: पश्चात् 'भद्रा' 'पिता मे' श्लोकसे अपना वृत्तान्त कहती है:

भद्रोवाच

पिता मे मातुलेयाय कृष्णे कृष्णाय दत्तवान्।
तच्चित्तां भ्रातृभिर्दत्तामक्षौहिण्या सखीजनैः ।।१५।।

श्लोकार्थ : भद्राने कहा कि मेरा चित्त भगवान्में ही था, अतः मेरे पिताने(भ्राताओं द्वारा वाग्दान कराके) मामाके पुत्र श्रीकृष्णको अक्षौहिणी सेना और सखियोंके साथ मुझे भगवान्को अर्पण की।।१५।।

व्याख्यार्थ : यह भद्रा श्रुतकीर्तिकी कन्या है श्री कृष्ण इसके मामेके पुत्र हैं. हे कृष्णे!(द्रौपदि) अथवा कृष्णकेलिए मुझे दी, कृष्णको देनेका विशेष कारण यह है, कि उनमें मेरा चित्त था, भ्राताओंने द्वारका जाकर मेरा वाग्दान किया था, यह दान केवल वाणीसे नहीं था किन्तु संकल्प पढकर किया हुआ है, दानमें अक्षौहिणी और सखियां भी साथमें थीं।।१५।।

आभासार्थ : 'अस्य मे पाद संस्पर्श'में अपनी कामनाका वर्णन करती है :

अस्य मे पादसंस्पर्शो भवेद् जन्मनि जन्मनि।
कर्मभिर्भ्राम्यमाणाया येन तच्छ्रेय आत्मनः ।।१६।।

श्लोकार्थ : मैं कर्मोंसे कहीं भी भ्रमण करती रहूं, तो भी वहां जन्म-जन्ममृ मुझे भगवच्चरणका स्पर्श होता रहे, क्यृाकि अपना कल्याण इसमृ है।।१६।।

व्याख्यार्थ : जन्म-जन्ममृ चरण स्पर्श होवे, जब जब भगवान् अवतार लृगे तब तब लक्ष्मीकी भांति मैं भी आऊंगी, भगवान्की शक्ति होनेसे स्वयं होगी, तो फिर प्रार्थना क्यृा करती हो? यदि यृा कहती हो इसका उत्तर यह है कि, कर्मोंसे फिरनेवाली होनेसे प्रार्थना करती हूं, जीवभावसे कर्म सम्बन्ध है, अन्यथा यदि जीवभाव न हो तो कर्म सम्बन्ध भी न हो तो दूसरेसे भी सम्बन्ध न होना चाहिए, वह हुआ है जैसा कि श्रुतकीर्तिकी कन्या कर्मोंके कारण ही हुई है, यदि यृा है तो भी क्या हुआ? इसका उत्तर देती है कि जिसके पाद स्पर्शसे वह प्रसिद्ध ब्रह्मानन्दरूप श्रेय आत्माको प्राप्त होता है इसलिए उसकी प्राप्तिके वास्ते प्रार्थना करनी आवश्यक है।।१६।।

आभासार्थ : ये रुक्मिणी आदि भक्तिके सात भेद हैं :

अर्चनात्मा रुक्मिणी स्यात् श्रवणं तदनन्तरा।
सर्वपापक्षय: पूर्वं यस्माद् अत्र निरूप्यते।
एकान्ते च प्रदत्तेति तृतीया स्मृतिरुच्यते।
चतुर्थ्येव चतुर्थी स्यात् द्वितीया पंचमी मता।
सर्वान्बलवतो दुष्टान् विनिवार्यैव कीर्तियेत्।
षष्ठी तु सप्तमी प्रोक्ता सप्तमी तद् विपर्ययम्।।
नमने पादसंस्पर्श: प्रतिवारं भवेद् इति।
सख्यरूपा त्वष्टमीयं महती विनिरूप्यते।।का.५-८।।१६।।

कारिकार्थ : ये जो सात पटरानियां कही, वे सात ही भक्तिरूपा हैं. अर्चनरूपा भक्ति रुक्मिणी है, श्रवणरूपा सत्यभामा है. इन भक्तियृाके करनेसे सर्व पाप क्षय होते हैं. जाम्बवती एकान्तमृ दी हुई है, इस कारणसे यह स्मरणरूपा भक्ति है, कालिन्दी पाद-सेवनरूपा भक्ति है, मित्रविन्दा कीर्तनरूपा भक्ति है, सर्व बलवान् दोषृाको दूर कर कीर्तन करना चाहिए. छट्ठी-सातवीं कही है, सप्तमी उसके विपरीत है, छट्ठी पटरानी दास्यरूपा भक्ति है, लक्ष्मणा आठवीं सख्यरूपा भक्ति है, वह इन सर्वमृ श्रेष्ठ है।।१६।।

आभासार्थ : द्रौपदीके अभिमानके नाशार्थ लक्ष्मणा 'ममापि' श्लोकसे

अपना वृत्तान्त कहती है :

लक्ष्मणोवाच

ममापि राज्ञ्यच्युत–जन्मकर्म श्रुत्वा मुहुर्नारद–गीतम् आस ह ।
चित्तं मुकुन्दे किल पद्महस्तया वृतः सुसंमृश्य विहाय लोकपान् ।।१७।।

श्लोकार्थ : लक्ष्मणाने कहा कि हे द्रौपदी! बार–बार नारदजीके गाए हुए भगवान्के जन्म और कर्म सुनकर मेरा मन उन मुकुन्दमें आसक्त हो गया, तब अच्छी तरह विचार कर, पद्मको दीपकी भांति हस्तमें लेकर देखती हुई सर्व लोकपालोंको छोड़कर इनको वर लिया।।१७।।

व्याख्यार्थ : वह(लक्ष्मणा) अपने विवाहको द्रौपदी आदिके विवाहसे उत्तम मानती है. राधावेध(मछली वींधना) दुर्लक्ष्य है उससे भी अधिक यदि हो तो भगवान्का किया हुआ है, उससे भी भर्तारूपसे सखाभाव त्यागकर भगवान्की सखी होना श्रेष्ठ जाना इसलिए प्रथम ही भगवान्से अपने मनकी प्रीति जोड़ो, यों कहती है कि वह ही सखाभावको प्राप्त कर सकता है जो पहले जन्मसे लेकर सारा जीवन अथवा जिसने अन्य जन्मोंमें भी भगवान्में चित्त पिरो दिया है. हे रानी! यह सम्बोधन इसलिए दिया है कि जो कुछ मै कहती हूं, वह सावधान होकर सुनो, इनके भजन करनेमें मुख्य कारण यह है कि आप अच्युत हैं, अतः कभी भी किसी तरहसे भी आपकी च्युति नहीं होती है, प्रभुका प्राकट्य भक्तोद्धारकेलिए है और कर्म भक्तोंके कार्य सिद्ध करनेके वास्ते ही है तथा कुल एवं शीलको वारंवार जो नारदजी गाते हैं उसको सुनकर, मनमें इसको प्रमाणरूप सत्य है यों निर्धार कर मुकुन्दमें मनको आसक्त कर दिया, और यह भी समझा कि अच्युत होनेसे आप सब प्रकार ऐहिक सुखदाता हैं एवं मुकुन्द होनेसे मोक्ष देनेवाले भी आप ही हैं, अतः इनको वरण करनेसे दोनों लाभ प्राप्त होंगे, यों है, तो भी जो योगियोंको प्राप्त होने वा समझने योग्य हैं उनको स्त्रियां कैसे पा सकेंगी? अथवा उनका वरणीय कैसे होगा? इसके उत्तरमें कहती है कि, मैंने दीपकी तरह कमल लिया जिसके द्वारा पूर्ण रीतिसे सब राजाओंको देखा फिर विचार किया, विचार करनेसे निश्चय किया, कि दूसरे राजा लोकपाल आदि निरर्थक हैं क्योंकि दोषोंवाले हैं, ये ही एक निर्दोष हैं, अतः सबका त्यागकर इनका वरण किया।।१७।।

ज्ञात्वा मम मतं साध्वि पिता दुहितृवत्सलः ।

बृहत्सेन इति ख्यातस्तत्रोपायमचीकरत् ।।१८।।

श्लोकार्थ : हे साध्वी! पुत्री-वत्सल मेरे पिता बृहत्सेनने मेरा इस प्रकारका मत जानकर वैसा उपाय किया, जैसे मुझे श्रीकृष्ण प्राप्त होवे।।१८।।

व्याख्यार्थ : कन्याका मन जिसमृ लगा हुआ हो उनको देनी चाहिए, कन्या स्वयं अपनेको देनेमृ तो लज्जाका अनुभव करती है. अतः यदि मैं साधारण प्रकारका स्वयंवर करूंगा तो हर कोई ग्रहण कर सकेगा, इसलिए कोई महान् कठिन शर्त इसमृ रखनी चाहिए जिसको श्रीकृष्णके सिवाय दूसरा कोई पूर्ण न कर सके, याृ निश्चय कर पुत्रीवत्सल मेरे पिताजीने मेरा भाव जान लिया था अतः वैसा उपाय किया।।१८।।

आभासार्थ : उस उपायको 'यथा स्वयंवरे' श्लोकमृ बताती है :

यथा स्वयंवरे राज्ञि मत्स्यः पार्थेप्सया कृतः ।

अयं तु बहिराच्छन्नो दृश्यते स जले परम् ।।१९।।

श्लोकार्थ : हे द्रौपदी रानी! जैसे तुम्हारे स्वयंवरमृ अर्जुनको देनेकी इच्छासे मत्स्य किया गया था, वैसे मेरे स्वयंवरमृ भी मत्स्य किया गया था, परंतु तुम्हारे स्वयंवरमृ जो मत्स्य था, वह केवल बाहर ढ़का हुआ था, इसलिए खंभेमृ लगी हुई दृष्टिसे वह देखनेमृ आ जाता था, किन्तु यह वैसा नहीं था, यह तो खंभेके पास रखे हुए कलशके जलमृ ही दीख सकता था, अतएव दृष्टि नीचे और लक्ष्य उपर होनेसे यह मत्स्य श्रीकृष्णचन्द्रके सिवाय दूसरा कोई वेध नहीं सकता।।१९।।

व्याख्यार्थ : तुम्हारे स्वयंवरमृ मत्स्य इसी प्रकार रखा गया था, कि अर्जुन ही उसको वेध सके, मेरे स्वयंवरमृ मत्स्य उससे विशेष प्रकारसे रखा गया था. आपके स्वयंवरवाला मत्स्य, तो बाहर ढका हुआ था, वह तो ढका हुआ(कपड़ेमृ लपेटा हुआ) था किन्तु जलमृ दीखता था, क्याृकि उसकी जलमृ परछाई पड़ती थी जिससे वह दीख जाता था, मेरे स्वयंवरवाला मत्स्य तो जलमृ भी नहीं दीखता था,सर्व प्रकार बाहर लपेटा हुआ ही था, अतः उसको अर्जुन भी वेध नहीं सके यह ही मेरे पिताका अभिप्राय था।।१९।।

आभासार्थ : यह स्वयंवर सुनकर बलसे मत्त बड़े-बड़े राजा लोग वहां आए यह 'श्रुत्वैतत्सर्वतो' श्लोकसे बताती है :

श्रुत्वैतत् सर्वतो भूपा आययुर्मत्पितुः पुरम् ।

सर्वास्त्रशस्त्रतत्त्वज्ञाः सोपाध्यायाः सहस्रशः ।।२०।।

श्लोकार्थ : यह बात सुनकर सब अस्त्र तथा शस्त्रके ज्ञाता हजारू राजा लोग अपने-अपने उपाध्यायूको साथ ले, चारू ओरसे मेरे पिताके नगरमू आए।।२०।।

व्याख्यार्थ : जो आए उनके बलको कहती है कि सर्व प्रकारके वैदिक लौकिक अस्त्र शस्त्रके तत्त्वको जाननेवाले थे, जैसा कि वहां खड़ा रहकर फूकनेसे इस प्रकार लक्ष्य हो सकेगा, इस शस्त्रको जोड़नेसे लक्ष्यका वेध हो जाएगा, अचानक भूल हो जाए वा सभा कम्प हो, तो इसलिए हजारू उपाध्याय साथ लाए थे, उनसे पूछकर कार्य करूगे. एकके भंग होने पर दूसरा ग्रहण करेगा, यू स्वतः उनको आदान करने पर भी प्रतिष्ठा नहीं होगी।।२०।।

पित्रा सम्पूजिताः सर्वे यथावीर्यं यथावयः ।
आददुः सशरं चापं वेद्धुं पर्षदि मद्धियः ।।२१।।

श्लोकार्थ : पराक्रम तथा आयुके अनुसार सबका मेरे पिताने सत्कार किया, अनन्तर सभामू रखे हुए सिर सहित धनुषको मत्स्य वेधार्थ लेने लगे, क्यूकि मेरी प्राप्तिका ही उनको ध्यान था कि वेध करनेसे वह मिलेगी।।२१।।

व्याख्यार्थ : आए हुए सबकी पिताजीने पूजा की, वीर्य और आयुके अनुसार, यथायोग्य पूजन किया अर्थात् सबकी समान पूजा नहीं, गुणानुसार पूजा की. यू न करते तो केवल उपाध्यायूका ही पूजन होता. वहां सभामू ही वेद मन्त्रूसे अभिमन्त्रित धनुष और शर रखा था, वे राजा उनको लेने लगे, लेनेका कारण यह था कि वेध करना था, 'पर्षदि' सभामू, क्यूकि मुझे लेनेकी इच्छावाले थे।।२१।।

आभासार्थ : पश्चात् उनके भंग होनेका प्रकार कहती है :

आदाय व्यसृजन्केचित्सज्जीकर्तुमनीश्वराः ।
आकोष्ठं ज्यां समुत्कृष्य पेतुरेकेऽमुना हताः ।।२२।।

श्लोकार्थ : कितने ही राजाओूने तो धनुष-बाण लेकर छोड दिया, कुछ डोरी ही नहीं चढा सके, कुछ राजा ऐसे भी थे, जिन्हूने कोहनीके नीचे भाग तक खींचा तो गिर गए और वह धनुष उनके उपर पड़नेसे वे मर गए।।२२।।

व्याख्यार्थ : कितने ही जो डोरी नहीं चढा सकते थे वे कहने लगे, कि वेध मात्र ही करना है, डोरी चढानी बिना प्रयोजनवाली बात है, दूसरे बहुतसे ऐसे

थे, जिन्हूने डोरी चढ़ाई किन्तु जब उसको खींच कर कोहनी तक लाए तब बल क्षय हो जानेसे गिर पड़े, उसके बाद अपने ऊपर गिरे धनुषसे वे मर गए।।२२।।

आभासार्थ : इस प्रकार अप्रसिद्धृका स्वरूप कहके 'सज्ज्यं' श्लोकसे प्रसिद्धृका स्वरूप कहती है :

सज्ज्यं कृत्वाऽपरे वीरा मागधाम्बष्ठचेदिपाः ।
भीमो दुर्योधनः कर्णो नाविदुस्तदवस्थितिम् ।।२३।।

श्लोकार्थ : दूसरे वीर, मागध, अम्बष्ठ, चेदिय, भीम, दुर्योधन और कर्ण भी वह(मत्स्य) कहां है ? इसको न जान सके।।२३।।

व्याख्यार्थ : दूसरे, अर्थात् पूर्व जो कहे हैं उनके सिवाय दूसरे, उनका नाम कहते हैं, मागध,(जरासन्ध) अम्बष्ठ,(भगदत्त हस्तीके पालक होनेसे अम्बष्ठ), चेदिय,(शिशुपाल) वैसे ही भीम, दुर्योधन तथा कर्ण, इन सबने भी यह न जाना कि मत्स्यकी स्थिति कहां है।।२३।।

मत्स्याभासं जले वीक्ष्य ज्ञात्वा च तदवस्थितिम् ।
पार्थो यत्तोऽसृजद्बाणं नाच्छिनत्पस्पृशे परम् ।।२४।।

श्लोकार्थ : अर्जुनने मत्स्यका जलमृ प्रतिबिम्ब देख, उसकी वही स्थिति समझ, सावधान हो, बाण चलाया, उस बाणने उसका स्पर्श किया, किन्तु उसको वेधा नहीं।।२४।।

व्याख्यार्थ : पश्चात् अर्जुनने आवरण सहित मत्स्यका प्रतिबिम्ब जलमृ देखकर, अमुक स्थान पर ही यह है याृ निश्चय कर सावधान हो बाण छोड़ा, तो भी लक्ष्यको वेधा नहीं केवल स्पर्श ही किया, नर और नारायणमृ इतना ही अन्तर है, एक नारायणकी दोनृ शक्तियां ज्ञान और क्रिया पूर्ण हैं, दूसरे नर(अर्जुन)की एक(ज्ञान) भी कथंचित् है।।२४।।

आभासार्थ : याृ साधारण प्रसिद्ध और अति प्रसिद्धृका निराकरण होनेसे सब ही निवृत्त हो गए जिसका वर्णन 'राजन्येषु' श्लोकृसे वर्णन करती है :

राजन्येषु निवृत्तेषु भग्नमानेषु मानिषु ।
भगवान्धनुरादाय सज्जं कृत्वाथ लीलया ।।२५।।
तस्मिन्संधाय विशिखं मत्स्यं वीक्ष्य सकृज्जले ।
छित्त्वेषुणापातयत्तं सूर्ये चाभिजिति स्थिते ।।२६।।
दिवि दुन्दुभयो नेदुर्जयशब्दयुता भुवि ।

देवाश्च कुसुमासारान् मुमुचुर्हर्षविह्वलाः ।।२७।।

श्लोकार्थ : इस तरह उन अभिमानी क्षत्रियाृका मान भंग होते हुए वे सब निवृत्त हो गए, तब श्रीकृष्णचन्द्रजीने धनुष ले, पनच(धनुषकी डोरी) चढ़ा, उसमृ लीलासे बाणका संधान कर मध्याह्न समय अभिजित् नक्षत्रके होते, एक बार जलमृ मत्स्यको देखकर बाणसे उसे काट गिरा दिया, उस समय जय-जय शब्दके साथ स्वर्गमृ दुन्दुभि बजने लगी, हर्षसे विह्वल हुए देवता पुष्पाृकी वर्षा करने लगे।।२५-२७।।

व्याख्यार्थ : ऐसे प्रसिद्ध योद्धा क्षत्रिय भी नहीं वेध सके तो कृष्ण क्या करेगा? इस शंकाको मिटानेकेलिए कहा है कि 'भगवान्' है इसलिए लीलासे ही तैयार कर लिया, याृ कहनेसे यह बताया है कि आदिसे अन्त तक जो क्रिया करनी होती है वह सब कर ली कुछ शेष न रखा, जो दूसरा आकर करे, लीलासे अर्थात् खेलकी तरह जो किया उसका कारण यह था कि मैं प्रसन्न हो जाऊं, अन्यथा करते तो मुझे चिन्ता होती. 'तस्मिन् स धाय विशिखं' कहा जिसका तात्पर्य है कि लौकिक न्यायसे ही मारा, पश्चात् अर्जुनके सन्तोषकेलिए ही एक बार मत्स्यको जलमृ देख बाणसे तोड़कर पानीमृ गिरा दिया, जिस समय भगवान्ने यह क्रिया की उस समय 'अभिजित्' लग्न था, उसने ही सब दोष नष्ट कर दिए, याृ लौकिक प्रकार ही कहा, भगवान्ने वह कार्य किया जो जीवसे नहीं हो सकता था. यह एक चरित्र लोकमृ हुआ तब इससे सन्तुष्ट हो स्वर्गमृ दुन्दुभि बजने लगी और जय जय ध्वनि हुई. पृथ्वी पर मनुष्य दुन्दुभि बजाने लगे और जय जय शब्द करने लगे, पश्चात् भगवान् देवाृमृ अपना उत्कर्ष प्रकट करने लगे. इसके बाद भगवान् दैत्याृका वध करृगे, इस प्रकार संतोष होनेसे देवता और दूसरे सिद्ध आदि भी पुष्प वर्षा करने लगे, हर्षसे विह्वल हो गए।।२५-२७।।

आभासार्थ : याृ हो जानेसे पिताका प्रण सिद्ध हो गया, इसलिए मैंने श्रीकृष्णचन्द्रको वरण किया यह वृत्तान्त 'तदंगमाविषं' दो श्लोकाृमृ कहती है :

तद्रङ्गमाविशमहं कलनूपुराभ्यां पद्भ्यां प्रगृह्य कनकोज्ज्वलरत्नमालाम् ।
नूत्ने निवीय परिधाय च कौशिकाग्र्येसव्रीडहासवदना कबरीधृतस्रक् ।।२८।।

श्लोकार्थ : कनकसे मढ़ी हुई उज्जवल रत्नाृकी मालाको हाथमृ ले, मधुर शब्द ध्वनि करनेवाले नूपुराृको धारण कर, नूतन दो पट्ट वस्त्राृमृसे एक पहन कर और एकको उपरसे लपेट, केशपाशमृ फूलमाला बांधकर, लज्जा और

हास्ययुक्त मुखवाली मैं स्वयंवरकी सभामृ आई।।२८।।

व्याख्यार्थ : इस एक श्लोकसे अपना वर्णन करती है, दूसरे निम्न श्लोकसे अपनी क्रिया कहेगी, शब्द आदि पांच विषय हैं, वे पांच ही मुझमृ हैं, इसलिए पांच विशेषण दिए हैं, जहां विवाहका उत्सव हो रहा था उस रंग स्थानमृ मैंने प्रवेश किया. किस तरह और किस रूपमृ जिसका वर्णन करती है, मधुर झंकार करनेवाले नुपराृको धारण किया था, इससे यह सूचन किया कि मैंने जो आभरण धारण किए थे वे मूक नहीं थे किन्तु मधुर ध्वनि करते थे, ऐसे आभरणाृसे युक्त मेरे चरण थे, जिनसे मेरी पहचान हो जाती थी. अपने रूपकी सम्पत्ति दिखाते हुए कहती है कि मैंने कनक(सोने)से मढी हुई उज्जवल रत्नाृकी माला हस्तमृ ले ली थी, वह माला भगवान्के कण्ठमृ डालनी थी, अपनी समानता दिखाती हुई अपने रूपकी विशेषता निरूपण करती है, दो रेशमी वस्त्र एक शरीर पर पहना था और दूसरा उसके ऊपर लपेटा हुआ था, 'च' पदसे यह भाव भी निकलता है कि वस्त्राृको कञ्चुकवत् भी कर लिया हो, इससे स्पर्शका उत्कर्ष कहा है. अब रसको प्रकट करनेकेलिए लज्जा तथा हास्यवाले मुख वाली मैंने लज्जासे भीतरके भावको सूचित किया, हाससे बाहर मोहको पैदा किया, और केशपाशमृ पुष्पमाला धारण की थी. ऐसी बनकर ही मैं सभा मण्डपमृ आई थी।।२८।।

उन्नीय वक्त्रमुरुकुन्तलकुण्डलत्विग् गण्डस्थलं शिशिरहासकटाक्षमोक्षैः ।
राज्ञो निरीक्ष्य परितः शनकैर्मुरारे रंसेऽनुरक्तहृदया निदधे स्वमालाम् ।।२९।।

श्लोकार्थ : केश-भार व कुण्डलाृकी कांतिसे चमकते हुए कपोलाृवाले मुखको ऊपर उठाकर, सर्व तापको हरनेवाले हासयुक्त कटाक्षाृके विलासाृसे चारृ ओर धीरे-धीरे राजाआृको देखकर, श्रीकृष्णमृ ही अनुरक्त चित्तवाली मैंने अपनी माला मुरारीके गलेमृ डाली।।२९।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार सब गुणाृसे पूर्णने मुरारीके गलेमृ अपनी माला डाली, रसकी शंकाको मिटानेकेलिए राजाआृको मुख उठाके देखने लगी, मुख उठानेका यह कारण था, कि मुख केशसे ढका हुआ था उनको दूर करनेकेलिए मुखको ऊपर किया जिससे देखनेका प्रतिबन्ध मिट गया. जैसे विद्युत् सामने आवे तो नेत्रमृ चकाचाृध होनेसे देखा नहीं जाता है, वैसे ही कुण्डलाृकी कान्तिसे चमक रहे कपोलाृके कारण भी नेत्र, उनको देखनेमृ समर्थ न थे, इसलिए देख न सके. तदर्थ मुख ऊपर उठाना और उनके नेत्राृके लक्षण कहे हैं कि 'शिशिरहास

कटाक्षमोक्षैः' सर्वके तापको हरण करनेवाला अथवा सर्व प्रकारके तापाृको हरण करनेवाला जो हास, उत्पन्न होते ही सर्वाह्लादकारी है, उस सहित जो कटाक्षाृके मोक्ष, एकसे वशीकरण और दूसरेसे घायल करना, आदि क्रिया करती हुई, वरणसे प्रथम अन्याृको देखना दोष नहीं है, सब ही राजाआृको देखती हुई चारृ ओर धीरे धीरे दृष्टि फृकती थी, जिससे वहां भगवान्के दर्शन हुए, दर्शन होते ही उस मुरारिके गलेमृ अनुरक्त हृदयवाली होते हुए मनरूप माला देकर, अपनी प्रतिकृतिरूप रत्नमाला डाली।।२९।।

आभासार्थ : वह मेरा वरण सर्व संमत हुआ, यह जतानेकेलिए उस समय उत्सव और वाद्य हुआ वह 'तावन्मृदंगपटहाः', श्लोकमृ कहती है :

तावन्मृदङ्गपटहाः शङ्खभेर्यानकादयः।
निनेदुर्नटनर्तक्यो ननृतुर्गायका जगुः ।।३०।।

श्लोकार्थ : इतनेमृ मृदंग, पटह, शंख, भेरी और आनक आदि बजने लगे, नट और नटनियां नाचने लगीं, गानेवाले गान करने लगे।।३०।।

ये पांच मंगल वाद्य नित्य हैं, उत्सवमृ गीत, वाद्य नृत्य ये तीन कहने चाहिए, वाद्याृको कहकर नृत्य कहती है, कि नट और नटनियां नाचने लगी और गान कहती है कि गानेवाले गान करने लगे।।३०।।

आभासार्थ : पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'एवं वृते' श्लोकमृ कहती है :

एवं वृते भगवति मयेशे नृपयूथपाः।
न सेहिरे याज्ञसेनि स्पर्धिनो हृच्छयार्दिताः ।।३१।।

श्लोकार्थ : हे द्रौपदी! इस प्रकार जब मैंने ईश, भगवान्का वरण किया, तब ईर्षालु और कामसे पीड़ित राजगण इसको न सह सके।।३१।।

व्याख्यार्थ : भगवान्पनेसे सर्व सम्पत्तिरूप हैं. ईशपनसे अवश्य वरण योग्य हैं. दूसरे राजा लोग तो शूकर सम थे, अकेला फिरनेवाला ही सिंह है, जो यूथ बनाकर साथमृ फिरते हैं, वैसे राजा तो मारने योग्य हैं याृ निरूपण किया. शूकर सम होनेसे ही, मेरे वरण कार्यको सहन न कर सके. याृ कहनेसे उनके अन्तःकरणके दोषका निरूपण किया. 'याज्ञसेनी' संबोधन विश्वास करनेकेलिए ही दिया है यज्ञरूप है सेना जिसकी, वह यज्ञसेन उसकी कन्या याज्ञसेनी, हे द्रौपदी इस यज्ञसे ही उत्पन्न हुई है, इसे भगवान् ले जाते हैं जिससे भगवान्से वे राजा ईर्षा करने लगे, मेरेलिए कामसे पीड़ित होते थे, इस प्रकार दूसराृका दोष स्वभावकृत है

याॅ कहा।।३१।।

आभासार्थ : अनन्तर भगवान्ने जो किया वह कहती है :

मां तावद्रथमारोप्य हयरत्नचतुष्टयम्।

शार्ङ्गमुद्यम्य सन्नद्धस्तस्थावाजौ चतुर्भुजः ।।३२।।

भगवान् तो उसी क्षण रत्नरूप चार घोड़ोवाले रथमॅ मुझे बिठाकर चार भुजावाले भगवान् शार्ङ्ग ले, कवच(बख्तर) पहनकर लड़ाईकेलिए तैयार हो गए।।३२।।

व्याख्यार्थ : ऐसी अवस्थामॅ छुटकारा कैसे हुआ? इस शंकाको मिटानेकेलिए जैसे स्यमन्तक, कौस्तुभ, स्पर्श और चिन्तामणि ये चार उत्तम रत्न हैं वैसे ही भगवान्के चार अश्व समस्त घोड़ाॅमॅ, रत्न समान उत्तम थे उन घोड़ाॅसे युक्त रथमॅ मुझे बिठाकर, पश्चात् भगवान् शार्ङ्ग धनुष ले कवच धारण कर, चतुर्भुज हो, लड़ाईमॅ लड़नेकेलिए तैयार हुए.

स्यमन्तकः कौस्तुभश्च स्पर्शश्चिन्तामणिस्तथा।

चत्वारो मणयः प्रोक्तास्तत्तुल्याः कृष्णवाजिनः।।का.९।।

साधनस्य च रक्षायाः क्रियायाः सर्वरूपतः।

कालस्यापि स्वचेष्टायाः परिग्रह इहोच्यते।।का.१०।।३२।।

यहां साधन[१] रक्षा, क्रिया, अपनी चेष्टारूप कालका भी सर्वरूपसे भगवान्ने ग्रहण किया यह बताया है।।३२।।

१. असि, चर्म, बाण और धनुष ये चार क्रमसे कहे हैं.

आभासार्थ : भगवान्ने शांर्ङ्गका ग्रहण राजाआॅको डरानेकेलिए ही किया, न कि उनके वधकेलिए, वैसा होने पर भूमिकेलिए मरना नहीं हो, अतएव भगवान्की प्रेरणासे दारुक रथको द्वारका ले चला, यह निम्न श्लोकमॅ कहा :

दारुकश्चोदयामास काञ्चनोपस्करं रथम्।

मिषतां भूभुजां राज्ञि मृगाणां मृगराडिव ।।३३।।

श्लोकार्थ : हे रानी द्रौपदी! दारुक सारथीने सुवर्णसे मढ़े रथको चलाया, तब जैसे हिरणाॅके देखते हुए सिंह चला जावे, वैसे ही भगवान् राजाआॅके देखते हुए चले गए।।३३।।

व्याख्यार्थ : सुवर्णमॅ मढे होनेके कारण हलका था, जिससे शीघ्र चलनेमॅ कोई रुकावट न होना, सूचित किया, राजा देखते तथा भाॅकते ही रहे. इससे

उनकी भी क्रियाशक्ति कही, भगवान्ने चतुर्भुज धारणकर स्वीकृत ज्ञानशक्ति ही शेष रही, राज्ञी! यह सम्बोधन पूरी तरह समझनेकेलिए दिया है और विशेष, वे रूपादि देख आश्चर्यसे ही मोहित हो रहे थे, वह समझानेकेलिए दृष्टान्त देती है कि जैसे हिरनॄको देखते ही सिंह अपना भाग ले जाता है, वैसे ही भगवान् अपना भाग मुझको ले चले।।३३।।

आभासार्थ : जो लोग दूर खड़े होनेसे दर्शनका आनन्द न ले सके, वे कितने ही आए, यॄ 'तेऽन्वसज्जन्त' श्लोकमॄ कहती है :

तेऽन्वसज्जन्त राजन्या निषेद्धुं पथि केचन।
संयत्ता उद्धृतेष्वासा ग्रामसिंहा यथा हरिम्।।३४।।

श्लोकार्थ : कितने ही राजा धनुष लेकर तैयार हो, जैसे सिंहको कुत्ते भौं-भौं करते हुए रोकनेकी व्यर्थ चेष्टा करते हैं, वैसे वे राजा भी मार्गमॄ भगवान्को रोकनेकेलिए आगे आकर व्यर्थ चेष्टा करने लगे।।३४।।

व्याख्यार्थ : कितने ही मूर्ख दूर खड़े होकर भगवान्को मार्गमॄ कहने लगे, कि इसको मत ले जाओ, यॄ कहते हुए रास्तेमॄ भ्रमण करते थे, सावधान थे, अतः धनुष तैयार कर लिए थे, इससे यह बताया कि जैसे भगवान्ने युद्धकेलिए धनुष लिया था वैसे ये भी युद्ध सामग्री धनुषादि लेकर तैयार थे, यॄ होते हुए भी इन्हॄमॄ केवल बकवाद करनेकी ही शक्ति थी. वास्तविकता भगवान्मॄ ही है, यॄ जतानेकेलिए, दृष्टान्त दिया है. सिंह नामकी बराबरी होते हुए भी जैसे ग्रामसिंह(कुत्ता) और सिंह(शेर)मॄ भेद है वैसे ही यहां भी अन्तर है।।३४।।

आभासार्थ: पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'ते शार्ङ्गच्युत' श्लोकसे कहा है:

ते शार्ङ्गच्युतबाणौघैः कृत्तबाह्वङ्घ्रिकंधराः।
निपेतुः प्रधने केचिदेके संत्यज्य दुद्रुवुः।।३५।।

श्लोकार्थ : शार्ङ्ग धनुषसे निकले हुए बाणॄसे उनके हाथ, पांव और गर्दनॄ कट गईं, तब कितने ही रणको छोड़ भाग गए।।३५।।

व्याख्यार्थ : शार्ङ्ग धनुष पर चढाया हुआ एक भी बाण जब उससे छूटता है तब बाणॄका समुह बन जाता है, अतः एक ही बाणसे बाहु, चरण और गर्दनॄके कई प्रकार टुकड़े हो गए और वे रणभूमिमॄ आकर गिरे, कितने ही रणभूमि छोड़ भाग गए, इस प्रकार प्राण और मान दोनॄका(नाश) बताया।।३५।।

आभासार्थ: बादमॄ 'ततः पुरीं' श्लोकसे स्त्री सहित द्वारकामॄ प्रवेश कहा:

ततः पुरीं यदुपतिरत्यलंकृतां रविच्छदध्वजपटचित्रतोरणाम् ।
कुशस्थलीं दिवि भुवि चाभिसंस्तुतां समाविशत्तरणिरिव स्वकेतनम् ।।३६।।

श्लोकार्थ : सूर्यको आच्छादन करनेवाली, ध्वजावाली और विचित्र तोरणोंसे अति अलंकृत, पृथ्वी और स्वर्गमें प्रशंसित हुई द्वारकापुरीमें भगवान्ने यों प्रवेश किया, जैसे सूर्य सायंकालको अपने गृह अस्ताचलमें प्रवेश करता है।।३६।।

व्याख्यार्थ : यह मेरा विवाह सर्व सम्मत था, यह जतानेकेलिए, यदुपुरीमें जो उत्सव हुआ उसका निरूपण करती है, पहले तो समग्र द्वारकापुरी अति अलंकृत की गई थी, उसमें जो बड़ी बड़ी ध्वजाएं लगाई गई थीं वे सूर्यका भी आच्छादन कर रही थी तथा विचित्र अनेक तोरण लगाए गए थे, यों कहनेसे ऊपर और मध्यकी शोभाका वर्णन किया, नीचेके भागको भी लेपन आदिसे अलंकृत किया था, द्वारकाका नाम 'कुशस्थली' कहकर यह समझाया है कि यह ऐसा स्थान है जिसको कोई तोड़ नहीं सकता है, दैत्यके सम्बन्धसे तो निन्दित है, इस शंकाको मिटानेकेलिए कहा है कि 'दिवि भुवि चाभिसंस्तुता' स्वर्ग तथा पृथ्वी, दोनोंमें चारों ओर प्रशंसित हुई है, छिपकर उसमें प्रवेश नहीं किया किन्तु सूर्यकी तरह सबके देखते हुए प्रविष्ट हुए।।३६।।

आभासार्थ : इस प्रकार अपने विवाहका गृह पहुंचने तकका समाचार कहकर, वहां जाकर पिताने विवाहके योग्य जो था वह सब कार्य किया, यह 'पिता मे' श्लोकसे कहते हैं :

पिता मे पूजयामास सुहृत्संबन्धिबान्धवान् ।
महार्हवासोलंकारैः शय्यासनपरिच्छदैः ।।३७।।

श्लोकार्थ : मेरे पिताने अमूल्य वस्त्र, अलंकार, शय्या, आसन और अन्य उपकरणोंसे मित्र, सम्बन्धी व बांधवोंका सत्कार किया।।३७।।

व्याख्यार्थ : मित्र आदि सब भगवदीय थे, उनको अमूल्य वस्त्र आदि, शय्या, आसन और आभूषण आदि सामग्री अर्थात् गृहके योग्य बर्तन आदि सर्व दिए।।३७।।

आभासार्थ : इसके बाद दहेज दिया जिसका वर्णन करती है :

दासीभिः सर्वसम्पद्भिर्भटेभरथवाजिभिः ।
आयुधानि महार्हाणि ददौ पूर्णस्य भक्तितः ।।३८।।

श्लोकार्थ : श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं पूर्ण हैं, उनको किसी प्रकारकी कमी नहीं है, तो भी अपनी भक्ति दिखानेकेलिए सर्व प्रकारके आभूषणाृसे सजी हुई दासियां, सकल सम्पदा, योद्धा, हाथी, रथ, घोड़े, और सर्व प्रकारके आयुध मेरे पिताने श्रीकृष्णको अर्पण किये।।३८।।

व्याख्यार्थ : वस्त्र आभरण आदि सर्व सम्पदाआृसे युक्त दासियां, इनके सिवाय दूसरी सम्पदा भगवान्केलिए ही थी, योद्धा, हस्ति, रथ, घोड़े ये सेनाके अंग हैं, और अमूल्य आयुध भी दिए, क्याृ दिए? भक्तिके कारण दिए कारण कि वे पूर्ण हैं इसलिए भक्तिके सिवाय कोई दूसरा हेतु नहीं. वे तो पूर्ण हैं उनको किसी पदार्थकी अपेक्षा नहीं है।।३८।।

आभासार्थ : 'आत्मारामस्य' श्लोकसे 'कामना' कही है :

आत्मारामस्य तस्येमा वयं च गृहदासिकाः।
सर्वसङ्गनिवृत्त्याद्धा तपसा च बभूविम ।।३९।।

श्लोकार्थ : ये सब हम सर्व संगसे निवृत्त हो, तपके प्रभावसे इन आत्माराम साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्रके घरकी दासियां बनी है।।३९।।

व्याख्यार्थ : सबने दासीपन कहा किन्तु उसका हेतु देकर उसको सिद्ध नहीं किया, अतः स्वयं उपपत्ति देती है, सब लाई हुई हैं पर सर्वको रमाते हैं, स्वयं तो आत्मामृ ही रमण करते हैं, 'तस्य' पद कहनेसे यह बताया है कि, वे आत्मामृ ही रमते हैं यह प्रसिद्ध ही है. 'रमाः' पदसे रुक्मिणी आदिका कथन किया है. 'वयं' पदसे अपनी मुख्यता निरूपण की है, 'च' पदसे दुसरियाृका भी निर्देश किया है सब हम गृहदासियां भगवान्के गृह कार्य आदिकेलिए ही जन्मी हैं. याृ होना भी अत्यन्त दुर्लभ है किन्तु हमको यह लाभ मिला है जिसका कारण है कि हम सबने पूर्व जन्ममृ सर्व संगका त्याग कर, इसकी प्राप्तिकेलिए तप किया है, जिसका यह फल है।।३९।।

आभासार्थ : सर्व रानियां एक भावको प्राप्त होकर प्रमुख रोहिणी अपना वृत्तान्त 'भौमं निहत्य' श्लोकमृ कहती है :

महिष्य ऊचुः

भौमं निहत्य सगणं युधि तेन रुद्धा ज्ञात्वाथ नः क्षितिजये जितराजकन्याः।
निर्मुच्य संसृतिविमोक्षमनुस्मरन्तीः पादाम्बुजं परिणिनाय य आप्तकामः ।।४०।।

श्लोकार्थ : रानियां कहने लगीं कि नरकासुरने दिग्विजयमृ जिन हम

राजकन्याआृको जीत रोक रखा था, उन्हृ भवसागरसे छुड़ानेवाले प्रभु(आप)के चरणारविन्दका स्मरण करती हुई जानकर श्रीकृष्ण भगवान्ने स्वयं पूर्णकाम होते हुए भी समरमृ नरकासुर और उसके परिवारको मार हमारा पाणिग्रहण किया।।४०।।

व्याख्यार्थ : 'सगणं' सेवक सहित अथवा उसके रक्षक देवसमेत लड़ाईमृ मारा न कि छिपकर वध किया, पश्चात् उसने हमको रोक रखा है, यह जान, कि हम आपके चरणाविन्दृका स्मरण कर रही हैं अतः वहांसे छुड़ाकर पाणिग्रहण किया. 'अथ' पदसे 'निर्मुच्य' पदका भावार्थ दूसरी तरहका प्रकट करते हैं कि संसारसे अर्थात् देहसे और चिन्तासे छुड़ाकर पाणिग्रहण किया. उनके निरोधका हेतु कहती हैं, पृथ्वीको जीतनेके समय जिन राजाआृको जीता उनकी हम कन्याएं हैं, इसलिए हमको बन्धनमृ डाल सका, भगवान् देहसे छुड़ावे इसमृ क्या आश्चर्य है? जिनका चरणार्विन्द इस संसारसे छुड़ाकर मोक्ष दे सकता है, जब हम उसका स्मरण कर रही थी तो हमको काहेकी चिन्ता? इस प्रकार छूटनेका साधन कहा अतएव पाणिग्रहण हुआ, इसमृ भगवान्का स्वार्थ होगा जिसका निवारण करती हैं कि वे तो पूर्णकाम हैं अतः उनका कोई स्वार्थ नहीं है।।४०।।

आभासार्थ : अपनी कामनाआृको 'न वयं'से लेकर तीन श्लोकाृसे निरूपण करती है :

न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भोज्यमप्युत।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरेः पदम्।।४१।।

श्लोकार्थ : हे साध्वी! हम न तो चक्रवर्तीपनकी, आत्मारामपनकी, सायुज्यकी, ब्रह्माण्डके आधिपत्यकी वा मोक्षकी इच्छा करती हैं, इनको छोड़कर अन्य किसी भोगकी इच्छा नहीं है।।४१।।

व्याख्यार्थ : हे साध्वी! द्रौपदीको इस सम्बोधनसे यह सूचित किया है कि मात्सर्य वा कटाक्षसे हम नहीं कहती हैं, चक्रवर्तीपन, आत्मारामता, इससे सर्व दुःखका अभाव निरूपण किया, अपि शब्दसे सर्व प्रकारके भोग, विद्या आदि भी कहे अब तो भगवान्के साथ ही भोज्यकी कामना है, ब्रह्माण्डके आधिपत्यकी और ब्रह्माण्डरूपपनकी कामना नहीं है, 'वा' अनादर अर्थमृ दिया है अतः मोक्ष सायुज्यादिमृ भी आदर नहीं है।।४१।।

आभासार्थ : इसी प्रकार लोक प्रसिद्ध कामनाआृको कहकर, वे नहीं

चाहिए या 'कामयामहं' श्लोकमा कहती हैं :

कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः ।
कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः ।।४२।।

श्लोकार्थ : किन्तु हम तो लक्ष्मीके कुच-कुंकुमकी सुगन्धीवाले इन भगवान् गदाधारीके सर्वोत्तम चरण रजको मस्तक पर धारण करना चाहती हैं।।४२।।

व्याख्यार्थ : ऊपर कहे हुए सबको हम नहीं चाहती हैं, आगे जो कहती हूं उनको चाहती हैं. वह क्या चाहती हो इस आकांक्षामा कहती है कि हम इन भगवान्की लक्ष्मी युक्त चरण रजको चाहती हैं, उस रजका वर्णन करती हैं कि वह रज, लक्ष्मीजीके कुचकी जो केसर है उसकी गन्धसे युक्त है अतः उसको हम चाहती हैं. तो क्या जैसे लक्ष्मी अपनी छाती पर, चरण स्थापनाकी कामना करती हैं, वैसे ही क्या आप भी चाहती हैं? जिसके उत्तरमा कहती हैं कि हम तो इस रजको मस्तक पर धारण करना चाहती हैं. यह आपकी मांग, असंगत भासती है, क्याकि यदि चरण मस्तक पर रहे तो उसकी रज सदैव मस्तक पर रहेगी. वह विषम स्थान पर कैसे स्थित रहेगी? इस शंकाकी निवृत्तिकेलिए कहती हैं कि 'गदाभृत' उसको मस्तक पर धरी रहनेकेलिए हम कुछ न कर सकेगे, तो भी स्वामी आप गदा लेकर खड़े रहेगे, अन्य प्रकार गदासे सम कर देगे. या भाव है. वह कठिन स्थान पर भी स्थित रहते हैं, जैसे ब्रह्मशिला पर स्थित हैं।।४२।।

आभासार्थ : यदि कामनाओका त्याग किया है तो सबका त्याग करो रजकी कामनासे क्या? इस शंकाका उत्तर 'व्रजस्त्रियो' श्लोकमा देती हैं :

व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति पुलिन्द्यस्तृणवीरुधः ।
गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः ।।४३।।

श्लोकार्थ : जैसे गौ चराते हुए गोप भगवान्के पाद स्पर्शको गोपियां, भीलनियां, तृण और लताएं उनकी चरण रजको चाहती हैं, वैसे ही हम भी उसे चाहती हैं।।४३।।

व्याख्यार्थ : उस वस्तुको ही सर्वोत्तम समझना चाहिए, जिसको नीच लोक भी प्रसिद्ध सुखवाली वस्तुका त्यागकर चाहते हो, जैसे बिलकुल भूखा मिले हुए भोजनका त्यागकर, यदि दूसरेकी चाहना करे तो समझना चाहिए कि वह दूसरी वस्तु इस भोजनसे उत्तम है. जो तृप्त है वह यदि भोजनका त्यागकर दूसरी

वस्तुकी चाहना करे तो यॄ नहीं समझना कि वह दूसरी उत्तम होगी. अतः नीचीसे नीची श्रेणी(दर्जे)के मनुष्य व पदार्थका दृष्टान्त देती हैं–व्रजकी स्त्रियां, जिन्हॄने कभी उत्कृष्ट लोक देखा ही नहीं. वे कदाचित् स्वर्ग पदकी मांग करॄ, किन्तु यदि वे भी उसका त्यागकर 'रज'की ही चाहना करती हैं. उनसे भी पुलिन्दियां कम दर्जेकी हैं, वैसे ही तृण और लताएं भी 'अहोचरणरेणुजुषां'मॄ रजकी ही कामना करती हैं, वैसे ही गायॄ भी रजको चाहती हैं, विशेष क्या कहॄ, भगवान्के समान गोप भी पाद स्पर्श ही चाहते हैं. इसमॄ 'उपपत्ति'(हेतुपूर्वक युक्ति) क्या है? जिसके उत्तरमॄ कहती हैं कि ये चरण रज जो हम मांग रही हैं वे महान् आत्माकी है, वे ऐसे प्रभाववाले हैं. युक्ति तो पहले कही है, यह शरीर इस रजस्पर्शसे ही भगवदीय होता है, भगवदीय होने पर ही सब अर्थ परिपूर्ण हो जाते हैं, बादमॄ कोई अर्थ नहीं रहता है।।४३।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम–स्कंधके ८०वॄ अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी(संस्कृत–टीका)के सात्त्विक फल
अवान्तर प्रकरणके षष्ठम् अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण

अध्याय ८१

वसुदेवजीका यज्ञोत्सव

पञ्चत्रिंशे सात्त्विकानां फलोत्कर्षो निरूप्यते।
सन्मानसंग्रहौ चैव ऋणापाकरणं तथा।।का.१।।

कारिकार्थ : उत्तरार्धके इस ३५वृ अध्याय, सात्त्विक-फल-अवान्तर प्रकरणके ७वृ अध्यायमृ सात्त्विकृके फलोत्कर्षका[१] निरूपण किया जाता है तथा ऋषियृका सम्मान, यज्ञकेलिए उनको बुलाना तथा ऋणसे वसुदेवजीका छूटना कहा जाता है।।१।।

निरुद्धानां हि लोकेस्मिन् दुर्लभं चेति रूप्यते।
तदीयत्वं फलं नान्यदिति चोक्तं समासतः।।का.२।।

कारिकार्थ : तदीयत्व(भगवदीयत्व) पूर्व कहा है, फिर कहनेका कारण यह है इस लोकमृ लौकिक कामृसे बद्ध है उन निरुद्धृका तदीयत्व होना दुर्लभ है, किन्तु 'च' पदसे कहते हैं कि भगवत्कृपासे सुलभ भी होता है. फल तो तदीयत्व होना ही है, अन्य कोई फल नहीं है, इसलिए ही समाससे कहा है।।२।।

आत्मीयानां निरोधं हि हरिरत्र करोति।
अतः फलं पूर्वमेव सिद्धरीत्या तु बोध्यते।।का.३।।

कारिकार्थ : हरि इस स्कन्धमृ आत्मियृका ही निरोध करते हैं कारण कि इस स्कन्धका अर्थ ही 'निरोध' है, अतः मुख्यपनसे वह ही करना है, इसलिए यहां तदीयत्वरूप फल अनुवाद(सिद्ध) रीतिसे समझाया जाता है।।३।।

अद्भुता भगवल्लीला निरोधः फलसूचकः।
फलं तु फलतासिद्ध्यै किमाश्चर्यमतः परम्।।का.४।।

कारिकार्थ : भगवान्की लीला ही अद्भुत है, निरोध तो फलका सूचक है, यहां जो फल-प्राप्ति है, वह निरोधरूप अर्थात् तदीयत्वरूप फलकी ही सफलता है, न कि ऋषियृके सम्मान अथवा ऋणापाकरणसे सफलता है।।४।।

१. तदीयत्वरूप फलका उत्कर्ष.

कारिकार्थ समाप्त

आभासार्थ : पूर्व अध्यायमृ भगवान्की स्वीयकरण(भक्तको अपना कर लेनेकी) लीलाका पूर्णरूपसे निरूपण हुआ, वह दो प्रकारकी थी, एक दृष्ट दूसरी

अदृष्ट, दृष्ट लीला भगवत्कार्य और अदृष्ट लीला चरणरज दोनाृकी सम्पत्ति होने पर भगवदीयत्व होगा, अतः उन स्त्रियाृका अतिशय आश्चर्यकारक भगवान्का चरित्र सुन भगवान्मृ स्नेहानुबंध हुआ, यह आश्चर्य निम्न श्लोकमृ शुकदेवजी कहते हैं :

श्रीशुक उवाच

श्रुत्वा पृथा सुबलपुत्र्यथ याज्ञसेनी माधव्यथ क्षितिपपत्न्य उत स्वगोप्यः ।
कृष्णेऽखिलात्मनि हरौ प्रणयानुबन्धं सर्वा विसिस्म्युरलमश्रुकलाकुलाक्ष्यः ।।१।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि कुन्ती, द्रौपदी, गान्धारी, सुभद्रा, राजाआृकी स्त्रियां और भक्त गोपियां ये सब इस प्रकार भगवान्की स्त्रियाृका, सर्वकी आत्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रमृ स्नेहानुबंधका चरित्र सुनकर बहुत विस्मित हुई और उनके नेत्र आंसुआृसे भर गए।।१।।

व्याख्यार्थ : द्रौपदी वह प्रसंग कहने लगी जिसे सुननेकेलिए सब ही बैठ गईं अतः जो मुख्य थीं उनके नाम लिए जाते हैं. गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा और दूसरे राजाआृकी स्त्रियां तथा अपनी गोपियां, 'अथ' दो बार और 'उत' इन पदाृसे स्त्रियाृका चार प्रकारसे प्रतिपादन करते हैं, सात्त्विक, राजसी, तामसी और निर्गुण. ये सब ही सर्वकी आत्मा, सर्व दोष हरण करनेवाले परमानन्दरूप श्रीकृष्णचन्द्रमृ स्नेहसे अनुबन्धवाली थीं. भगवान्की विवाहित स्त्रियाृका तो बाह्य सम्बन्ध भी है, हमारा तो साक्षात् सम्बन्ध प्रणय ही है, अतः भगवदीय कैसे बनूंगी? और ऐसी अवस्था कैसे होगी? याृ सुनकर सब विस्मित हो गई. 'स्म' अव्यय पद प्रसिद्धि अर्थमृ दिया है. कदाचित् विस्मय केवल बहार दिखानेका ही हो, इस पर कहते हैं कि नहीं, केवल बाहरका नहीं था किन्तु आन्तरका भी था जिससे उनके नेत्र आसुआृसे व्याकुल हो गए. 'कल' शब्दसे यह सूचित किया है कि ये आंसू शोकके नहीं थे, आकुलपन बताता है कि ज्ञान क्रियासे वे व्याप्त हो गई थीं।।१।।

आभासार्थ : इसी तरह पूर्व कहे हुए साधनके फलकी आकांक्षाका निरूपण कर भगवान् ही फल हैं यह जतानेकेलिए यह साधनाृका भगवत् शेषत्व[१] है याृ प्रतिपादन करते हुए मुनियाृका आगमन 'इत्थं' श्लोकसे कहते हैं :

इत्थं संभाषमाणासु स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृषु ।
आययुर्मुनयस्तत्र कृष्णरामदिदृक्षया ।।२।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार स्त्रियाॄके साथ स्त्रियां, पुरुषाॄके साथ पुरुष बातॄ कर रहे थे, वहां राम और कृष्णके दर्शनकेलिए मुनि आ गए।।२।।

व्याख्यार्थ : स्त्रियां परस्पर, पुरुष भी आपसमॄ भगवत्सम्बन्धी वार्तालाप कर रहे थे, जिससे सब स्त्री-पुरुषाॄकी भगवत्परायणता दिखाई है. जिससे इस बातचीत करनेके समयमॄ भी मुनियाॄका आना विरोधी नहीं है, अतएव मुनि लोग वहां आए, जहां ही जिसका अभीष्ट फल होता है वहां ही उसका आना होता है, अतः राम कृष्ण यहां विराजते हैं, यह मनसे जान इनके दर्शनकी इच्छासे मननरूप साधन करना भी त्यागकर आ गए. अब बाह्य क्रियासे ही मिलते हैं यह भाव है।।२।।

१.इससे सिद्ध किया है कि भगवान् ही फलरूप है.

आभासार्थ: उन मुनियाॄकी तीन श्लोकाॄसे गणना करते हैं :

द्वैपायनो नारदश्च च्यवनो देवलोऽसितः।
विश्वामित्रः शतानन्दो भरद्वाजोऽथ गौतमः ।।३।।
रामः सशिष्यो भगवन्वसिष्ठो गालवो भृगुः।
पुलस्त्यः कश्यपोऽत्रिश्च मार्कण्डेयो बृहस्पतिः ।।४।।
द्वितस्त्रितश्चैकतश्च ब्रह्मपुत्रास्तथाङ्गिराः।
अगस्त्यो याज्ञवल्क्यश्च वामदेवादयोऽपरे ।।५।।

श्लोकार्थ : वेदव्यास, नारद, च्यवन, देवल, असित, विश्वामित्र, शतानन्द, भरद्वाज, गौतम, शिष्याॄके साथ भगवान् परशुराम, वसिष्ठ, गालव, भृगु, पुलस्त्य, कश्यप, अत्रि, मार्कण्डेय, बृहस्पति, द्वित, त्रित, एकत, ब्रह्माके पुत्र, अङ्गिरा, अगस्त्य, याज्ञवल्क्य, और वामदेव आदि अन्य ऋषि भी आए।।३-५।।

व्याख्यार्थ : यहां(मुनियाॄमॄ) भी सात्त्विक आदि भेद हैं, गौतम तक नव मुनि सात्त्विक हैं, उनमॄ भी तीन भेद हैं. दो उत्तम हैं, छः मध्यम हैं, एक साधारण है. राम आदि नव राजस हैं, रामसे परशुराम समझना, वह भगवान् ही हैं तो भी उनके शिष्य मुनियाॄके समान है, जो लीला प्रगट करते हैं वह निरूपण की जाती हैं. द्वित आदि बहुत हैं ब्रह्मपुत्र पुलह हैं वा अङ्गिरसका विशेषण हैं. इस प्रकार निरूपण हैं।।३-५।।

आभासार्थ : बादमॄ जो कुछ हुआ उसका वर्णन करते हैं :

तान् दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रागासीना नृपादयः ।
पाण्डवाः कृष्णरामौ च प्रणेमुर्विश्ववन्दितान् ।।६।।

श्लोकार्थ : पहले ही स्थित पाण्डव, कृष्ण, राम और राजादिक, सब विश्वमृ नमन करने योग्य, उन ऋषियृको देख, सहसा उठकर, प्रणाम करने लगे।।६।।

व्याख्यार्थ : लोकमृ उन ऋषियृके गुण प्रसिद्ध थे, यृ उनकी बुद्धिका अनुसरण कर, अथवा व्यवहारका आश्रय कर सब ही उनका सन्मान करने लगे, कैसे करने लगे ? वह प्रकार बताते हैं. उनको देखते ही सब झटपट उठ खड़े हो गए इसमृ भी तीन भेद हैं, १.साधारण २.भक्त और ३.भगवान् सर्वने प्रणाम किया क्यृकि वे ऋषि विश्वमृ वन्दन योग्य हैं।।६।।

तानानर्चुर्यथा सर्वे सहरामोऽच्युतोऽर्चयत् ।
स्वागतासनपाद्यार्घ्यमाल्यधूपानुलेपनैः ।।७।।

श्लोकार्थ : सब लोगृने और राम सहित भगवान्ने इनका आसन, पाद्य, अर्घ्य, पुष्प, धूप और चन्दनसे स्वागत किया।।७।।

व्याख्यार्थ : पश्चात् उनका पूजन, जैसा योग्य था वैसा सब ही करने लगे अथवा जैसे भी लोकमृ स्थित थे, अर्थात् भगवन्मार्गको जाननेवाले या न जाननेवाले, सबने पूजन किया. जो भगवान् पूजन न करृ तो दुविधा हो जाय इसलिए राम सहित भगवान्ने भी पूजन किया. जहां 'आर्चयत्' पाठ हो वहां समझना चाहिए कि यह 'आर्ष' सन्धि है, अथवा अट्का आगम नहीं हुआ है. पूजाका प्रकार 'स्वागतासन'से कहा है।।७।।

आभासार्थ : यदि स्तुति न की जावे तो अन्य पूजा आदि केवल नाटक देखनेमृ आवे अर्थात् दिखावा मात्र है इसलिए 'उवाच' श्लोकमृ स्तुति कहते हैं :

उवाच सुखमासीनान् भगवान् धर्मगुब् विभुः ।
सदसस्तस्य महतो यतवाचोऽनुशृण्वतः ।।८।।

श्लोकार्थ : धर्मरक्षार्थ प्रगट विभु भगवान् मौन धारणकर बैठी हुई सभा जब सुननेकेलिए तैयार हो गई, तब सुखपूर्वक विराजमान ऋषियृको कहने लगे।।८।।

व्याख्यार्थ : अब क्या करना चाहिए, इसको श्रीकृष्ण जानते हैं क्यृकि भगवान् हैं, भगवान् होकर भी ऋषियृकी स्तुति क्यृ करने लगे ? इस शंकाको

मिटानेकेलिए 'धर्मगुब्' विशेषण दिया है, और आप 'विभु' हैं अतः यो स्तुति करनेमृ भी किसी प्रकार क्षति नहीं है. वहां 'धर्मगुप्तनुः' पाठ है, उसका अर्थ याृ करना कि धर्मकी रक्षाकेलिए ही शरीर धारण किया है. मुनियाृको स्तुति करना भी अवतारका ही कार्य है, यो सूचित किया. जिस स्थान पर स्तुति करने पर लोकमृ प्रसिद्धि हो वैसा यह स्थान है यह जतानेकेलिए कहते हैं कि, वाणीको रोक सावधान हो सब सदस्य सुनने लगे, कारण कि यह स्तुति महती(महान्) है और स्तुति प्रकृत विषयके उपयोगी है।।८।।

पञ्चभिर्भगवानाह स्तोत्रं तेषां महात्मनाम्।
तन्मुखान्निर्णयं वक्तुं पूर्वपक्षोक्तिरूपतः।।का.८।।

कारिकार्थ : उन महात्माआृकी स्तुति भगवान् पांच श्लोकाृसे करते हैं, किन्तु उनके मुखसे निर्णय कहलानेकेलिए पूर्वपक्षरूप यह स्तुति है।।का.८।।

आभासार्थ : प्रथम भगवान् उनके दर्शनकी प्रशंसा करते है :

श्रीभगवानुवाच
अहो वयं जन्मभृतो लब्धं कात्स्न्र्येन तत्फलम्।
देवानामपि दुःप्रापं यद्योगेश्वरदर्शनम्।।९।।

श्लोकार्थ : श्रीभगवान्ने कहा, अहो! आज हमारा जन्म सार्थक हुआ, जन्म लेनेका फल सम्पूर्ण रीतिसे मिला, क्याृकि देवाृको भी आप योगेश्वराृके दर्शन दुर्लभ हैं, वह मिला।।९।।

व्याख्यार्थ : 'अहो' आश्चर्य अर्थमृ दिया है. 'वयं' पद यशमृ दिया है, 'जन्म-भृत' पदसे यह सूचित किया है कि हमारा जन्म ही सफल हुआ. कैसे सफल है? जिसके उत्तरमृ कहते हैं कि जन्म लेनेका जो फल है, वह हमने सम्पूर्ण रीतिसे प्राप्त किया है. याृ तो जन्मका फल ज्ञानादिका भी होता है और धर्म भी होता है, किन्तु ये फल पूर्ण नहीं है. हमको जो फल अब मिला है जो सम्पूर्ण है. इससे विशेष कोई फल नहीं है जिसका कारण है, कि यह फल देवाृको भी दुर्लभ है क्याृकि श्रीकृष्ण योगेश्वर हैं, योगेश्वराृका दर्शन देव भी नहीं पा सकते हैं जिससे इन्द्र महान् कष्टसे भी बृहस्पतिका दर्शन नहीं पा सके वह छठेमृ कहा है।।९।।

आभासार्थ : केवल दर्शनकी दुर्लभताका निरूपणकर उसके सम्बन्धी सबका निरूपण करते हुए, इसके फलपनेमृ तर्क 'किं स्वल्प' श्लोकमृ कहते है :

किं स्वल्पतपसां नृणामर्चायां देवचक्षुषाम्।

दर्शनस्पर्शनप्रश्नप्रह्वपादार्चनादिकम् ।।१०।।

श्लोकार्थ : मनुष्य अल्प तपवाले होते हैं कारण कि वे मूर्तिमात्रमें ही देवबुद्धि करते हैं, जब मुनियोंके तो साक्षात् दर्शन होते हैं, उनसे प्रश्न कर सकते हैं, नम्रतासे उनका पूजन आदि हो सकता है, वह सब मूर्तिमें केवल भावसे होता है, मुनियोंमें तो साक्षात् होता है।।१०।।

व्याख्यार्थ : श्लोकमें 'नृणां' पद कहा है, जिसका भाव प्रकट करते हैं कि यह पद इसलिए दिया है कि देवादिका तप महान् ही होता है. मनुष्योंका अल्प तप होता है, मनुष्य अल्प तपवाले क्यों होते हैं जिसका कारण बताते हैं कि वे 'प्रतिमा'में देवबुद्धि करते हैं. प्रतिमा जड़ प्रकृति है और मनुष्य चेतन प्रकृति है, इसमें भी 'प्रतिमा' साधारण पामरोंकी बनाई हुई है. वह जड़ प्रकृति, चेतन प्रकृतिकी देवता कैसे हो सकेगी? यदि कहो कि आकृति है तो नटने कौनसा अपराध किया जो उसमें तो कोई देवबुद्धि नहीं करता है, यदि कहो कि नटमें स्थिरता नहीं है तो आकृति तो जड़ है. नटमें चेतन और गुण हैं दोनोंको मिलान कर फिर विचारना चाहिए. क्या चैतन्य और गुणदेवता हैं अथवा केवल आकृति ही देवता है? इस सब पर विचार करनेसे मिलाकर ध्यान देनेसे सन्देह होता है, आकृति तो अप्रयोजक है, क्योंकि वह भगवान् नहीं है. अन्यथा उसके गृहकी आकृति वा देहकी आकृति आदि सबमें ही भगवान् हैं, इस प्रकार होने पर भी उनका त्यागकर, कुशकाशादिके अवलम्बनवत् प्रतिमामें बुद्धिकी स्थिरता करनेवाले अल्प तपवाले हैं, मुनि भगवत्सम्बन्धवाले चेतन हैं, उनमें तो दर्शन, चरणोंका स्पर्श पश्चात् प्रश्न, बादमें विनय, अनन्तर पूजा इत्यादि सब कुछ इनमें हो सकता है, कारण कि, ये चेतन धर्मवाले हैं।।१०।।

आभासार्थ : यदि यों है तो सब लोग क्यों प्रतिमादिका पूजन करते हैं जिसका उत्तर 'न ह्यम्मयानि' श्लोकमें देते हैं :

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ।।११।।

श्लोकार्थ : तीर्थ केवल जलमय नहीं है, देवता केवल मृत्तिका और पाषाणादि धातुमय नहीं है, किन्तु वे भक्तको चिरकालमें(बहुत समयमें) पवित्र करते हैं, साधु लोग तो दर्शनसे ही शीघ्र पवित्र करते हैं।।११।।

व्याख्यार्थ : तीर्थ शब्दोंसे उसका ग्रहण किया जाता है जो शोधक(शुद्ध

करनेवाला) और स्वयं स्वच्छ हो वह जल भी हो सकता है और महात्माएं भी होते हैं अतः पानीरूप जो हैं, वे क्या तीर्थ नहीं हो सकते हैं? हो ही सकते हैं. कारण कि पानीमृ शोधक गुण देखा जाता है, परन्तु जो ज्ञानरूप शुद्धि साधुजन कर सकते हैं, वह शुद्धि तीर्थ नहीं कर सकते हैं. वैसे ही, मिट्टीसे बनी हुई और शिलासे बनी देव प्रतिमाएं भी पवित्र करनेवाली हैं किन्तु भक्तजनृके समान ज्ञान भक्ति आदि देखकर शुद्ध नहीं कर सकती हैं, कितनृके मतमृ स्थान ही देव है प्रतिमा तो अप्रयोजक है. उस स्थानमृ जो कोई प्रतिमा स्थापित की जाती है वह प्रतिमा ही देव होती है दूसरे स्थान पर प्रतिमा देव नहीं बनती है, अतः देव मिट्टी वा पत्थरके ही हैं. जहां स्थान प्रसिद्ध नहीं है, वहां शिलारूप लक्षणवाली ही प्रतिमा है. आठ प्रकारकी प्रतिमाएं स्थिर और शिलामय ही हैं. लोकमृ तो प्रसिद्ध है कि वे देवता हैं उनकी निन्दा क्यृ की जाती है? उत्तर देते हैं कि निन्दा नहीं करते हैं किन्तु कहते हैं कि वे बहुत समय सेवन करनेके बाद पवित्र करती हैं, भक्त और ज्ञानीजन तो केवल दर्शनसे ही पवित्र करते हैं. किसीकी भी यदि निन्दा की जावे तो वह निन्दा उसकी निन्दाकेलिए नहीं हैं किन्तु जिनका विधान करना है, उसकी स्तुतिकेलिए है. इसलिए जब पूजाका प्रश्न आता है कि किसकी पूजा शीघ्र फल देनेवाली है तब कहा जाता है कि ज्ञानी भक्त जो साधुजन हैं उनकी पूजा, तीर्थ और प्रतिमासे विशेष है अतः तीर्थ और प्रतिमाकी अपेक्षा उनकी पूजा करनी चाहिए, कारण कि, उनकी पूजासे फल शीघ्र मिलता है, तीर्थों पर जानेके बजाय भक्तजनृके पास जाना चाहिए, इससे लोक सिद्ध तीर्थ आदिकी निन्दा नहीं की जाती है।।११।।

आभासार्थ : इन साधुजनृकी अपेक्षा सूर्य आदि प्रत्यक्ष देव हैं वे ही क्यृ न पूजे जाते हैं? यदि यृ कहते हो तो इसका उत्तर कहते हैं :

नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारका न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः ।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया ।।१२।।

श्लोकार्थ : अग्नि, सूर्य, चन्द्र, तारा, पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, वाणी और मन इनकी उपासना की जावे, तो भी ये अज्ञानका हरण नहीं करते हैं, केवल पापका नाश करते हैं, कारण कि भेदको अंगीकारकर वे प्रवृत्त हुए हैं, किन्तु साधुजन, ज्ञानी मुहूर्त मात्रकी सेवासे अज्ञान मिटा देते हैं।।१२।।

व्याख्यार्थ : 'अग्नि'की उपासना अग्निहोत्रमृ प्रसिद्ध है, सूर्यकी भी

सन्ध्यावंदन आदिमृ उपासना होती है, चन्द्रमाकी व्रत आदिमृ पूजा होती ही है, तारे भी ग्रहादि पूजामृ बुधादि अथवा अश्विनी आदि रूपसे पूजे जाते हैं. भूमि विश्वम्भरा होनेसे उपासनादिमृ पूजी जाती है, वैसे ही जल, हृदयाकाश, प्राणायामरूप वायु आदि पूजे जाते हैं. 'अथ' पदसे सब पृथक् क्रमसे कहते हैं कि वाक् अर्थात् सरस्वती, मनकी उपासना योगादिमृ होती है जिससे ही शास्त्रमृ कहा है कि 'मनोवशेऽन्येह्यभवश्च देवा' मन वश होने पर सब देव वशमृ हो जाते हैं. ये सब यदि भगवत् बुद्धिसे पूजे जाते हैं तो पापका ही नाश करते हैं, विशेष नहीं अर्थात् ज्ञानादि उत्पन्नकर अज्ञानको नाश नहीं कर सकते हैं. इसमृ कारण यह है कि भेदको अंगीकारकर वह प्रवृत्त होता है जो अखण्डको खण्ड करता है, वह कृतार्थ कैसे होगा? ज्ञानी तो भेदको दूर करते हैं, अतः कहते हैं, कि ज्ञानी मुहुर्तमात्र सेवनसे भेदको नाश कर देते हैं, इतनेमृ ही ज्ञानका उदय और पापका क्षय बिना परिश्रम ही हो जाता है, जो शुद्धि ज्ञान कलासे होती है वह उन भेद कृतृसे नहीं होती है।।१२।।

आभासार्थ : यृ परमार्थ कहकर इनसे पृथक् सबको एक साथमृ निम्न श्लोकसे निन्दित करते हैं :

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ।।१३।।

श्लोकार्थ : जो लोग वात, पित्त और कफमय शरीरको ही आत्मारूप जानते हैं, स्त्री आदिमृ ही अपनत्वकी बुद्धि रखते हैं, भूमिके विकाररूप पदार्थोंमृ पूज्य बुद्धि रखते हैं तथा जलमृ तीर्थ बुद्धि करते हैं, किन्तु ज्ञानी भक्तृमृ कभी भी आत्म बुद्धि एवं पूज्य बुद्धि नहीं करते हैं, वे ही बैल वा गर्दभ(गधे) हैं।।१३।।

व्याख्यार्थ : 'कुणपे' अर्थात् देहमृ, जिस देहमृ चैतन्य नहीं है उसको कुणप कहते हैं. चेतनकी आत्मा जड़ नहीं होती है उसमृ मूल विचारसे भी दोष दिखाते हैं. 'त्रिधातुके' वह देह वात पित्त और कफकी प्रकृतिवाली है और आत्मा चेतन प्रकृतिवाली है इस कारणसे देहकी आत्मा धातु ही है न कि आत्मा, अथवा यह आत्माकी होती है. इस प्रकार देहमृ आत्मबुद्धि भ्रान्त है, यों निरूपण कर अपनेपनकी बुद्धि भी भ्रान्त है, स्त्री आदिमृ अपनापन समझना भूल है. अपने वे ही होते हैं जो अपना कल्याण करते हैं. वे कल्याण करनेवाले तो सन्त ही हैं. स्त्री आदि तो हानि ही करते हैं. वैसे भगवान् ही आत्माआृकी आत्मा सद्रूप है

'भौमे भूविकारे इज्यधी' पृथ्वीसे बने पदार्थोंमृ पूज्य बुद्धि भी भ्रान्ति है, अपनी देह भी पृथ्वीसे बनी हुई है, 'तीर्थ बुद्धिश्चसलिले' पानीमृ तीर्थ बुद्धि करना भी भ्रान्ति है. इस प्रकारकी चार बुद्धि जिसकी है उसको कभी भी ज्ञानियाृकी श्रेणीमृ नहीं गिनना चाहिए किन्तु मुर्खोमृ ही गिनना चाहिए. विशेष क्याृ कहृ वह ही बैल वा खर है, अथवा बैलाृकेलिए तृण ले आनेवाले जैसे गर्दभ हैं, वैसे ही ऐसे ये मनुष्य भी पशु प्रायः गृहस्थियाृके निर्वाहके लिये खर(गदहे) हैं, इस तरह मुनियाृकी स्तुतिकेलिए ही लोक प्रसिद्ध पदार्थोंकी निन्दा की है।।१३।।

आभासार्थ : जिन तीर्थ आदिकी भगवान् अब हीनता कर रहे हैं उनकी ही भगवान्ने प्रथम वेद द्वारा स्तुति की है अतः भगवान्के दोनाृ वाक्य परस्पर विरुद्ध होनेसे इनका निर्णय करना मुनियाृको भी कठिन हो गया इसलिए संदेहमृ पड़ गए, ऐसी अवस्था देख श्रीशुकदेवजी इसका वर्णन करते हैं :

श्रीशुक उवाच

निशम्येत्थं भगवतः कृष्णस्याकुण्ठमेधसः।
वचो दुरन्वयं विप्रास्तूष्णीमासन् भ्रमद्धियः ।।१४।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि अकुण्ठ बुद्धि भगवान् श्रीकृष्णके इस प्रकारके दूरन्वय वचन सुनकर मुनि संशयग्रस्त होनेसे चुप हो गए।।१४।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकारके भगवान्के वचन सुनकर, संशयग्रस्त बुद्धिवाले होनेसे चुप हो गए, याृ अन्वय है– भगवान्के वाक्याृमृ संदेह कैसे? भगवान्के वाक्याृके प्रामाण्यमृ तो निश्चय ही है, नहीं तो अर्थ पूर्ण सिद्ध ही हो. इस पर कहते हैं, 'अकुण्ठमेधसः' जिसका कहा हुआ समझमृ नहीं आता है कि ये वचन किसी अभिप्रायसे कह रहे हैं, इस कारणसे संदेह है. आपके वचनाृसे निश्चय क्याृ नहीं उत्पन्न होता है? जिनके उत्तरमृ कहते है कि 'दुरन्वयं' आपके वचन लोकसिद्ध अर्थके समर्थक भी हैं और उनके विरुद्ध भी है इसलिए 'दुरन्वय' है अर्थात् समझमृ नहीं आते हैं, इस कारणसे संशयमृ पड़ गए हैं।।१४।।

आभासार्थ : पश्चात् उनका निर्णय हुआ, वह कहते हैं :

चिरं विमृश्य मुनय ईश्वरस्येशितव्यताम्।
जनसंग्रह इत्यूचुः स्मयन्तस्तं जगद्गुरुम् ।।१५।।

श्लोकार्थ : मुनि लोग ईश्वरकी इस दीनता व सेवकत्वका बहुत विचार

कर हंसते हुए उस जगत्के गुरुको कहने लगे कि यॄ आपका कृत्य जनसंग्रहार्थ ही है।।१५।।

व्याख्यार्थ : 'मुनयः' पदका अर्थ है, विचार करनेमॄ जिनका साधक मनन ही है वे मुनि हैं. जिस विषयका विचार किया जा रहा है उसको कहते हैं कि 'ईश्वरस्येशितव्यताम्' सर्वसमर्थकी यह जो सेवकता है वह लोकसंग्रह है अर्थात् मनुष्य इस प्रकार बुद्धिसे सिखाए जाते हैं, जैसे कि जब आप इस प्रकार सेवकता एवं दीनताके वचन कहॄ, तब अन्य लोग भी कहना सीखॄ, पश्चात् भगवान्के वाक्यॄका अभिप्राय समझ हंसते हुए उस जगद्गुरु सर्वके हितके उपदेष्टाको कुछ कहने लगे।।१५।।

आभासार्थ : इस विषयमॄ मुनि लोग दो तरहसे निर्णय देते हैं कि आज भगवान् हमको मोहमॄ डालनेकेलिए यॄ कहते हैं अथवा अन्यॄके उपकारकेलिए कह रहे हैं, जो हमको यॄ कहते हैं तो 'यन्मायया' श्लोकसे उत्तर कहते हैं :

मुनय ऊचुः

यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा वयं विमोहिता विश्वसृजामधीश्वराः ।
यदीशितव्यायति गूढ ईहया अहो विचित्रं भगवद् विचेष्टितम् ।।१६।।

श्लोकार्थ : मुनि कहने लगे कि तत्त्वज्ञानमॄ उत्तम और विश्वके बनानेवाले कश्यप आदिके उपदेष्टा हम भी जिसकी मायासे मोहित हो रहे हैं, वे आप गूढ रहकर सेवकता बता रहे हो, अतः आपकी लीला विचित्र एवं ज्ञानीको भी भ्रममॄ डालनेवाली है. यह बड़ा आश्चर्य है।।१६।।

व्याख्यार्थ : तत्त्ववेत्ताओंमॄ उत्तम साक्षात्कार और उसके बोध देनेमॄ समर्थ हम हैं इससे ज्ञानशक्तिका निरूपण किया है. विश्वको रचनेवाले कश्यप आदिके भी उपदेष्टा तथा नियामक होते हुए भी हम मोहित हो रहे हैं, कैसा वह मोह है, भगवान् होकर भी अपना स्वरूप गूढ रख सेवकवत् आचरण कर रहे हैं. इस चेष्टासे लोग आपको जीव समझते हैं न कि भगवान्. इस प्रकार झापका चरित्र सुन व देख आश्चर्यमॄ पड़कर ऋषि लोग कहने लगे, कि भगवान्की लीला विचित्र है, क्यॄकि भगवान् होकर यॄ क्यॄ करते हैं, अथवा यह क्यॄ नहीं करते हैं, दोनॄमॄ भगवत्व ही हेतु है. अनीशता अल्पेशता भी भगवान्मॄ नहीं हैं, भगवान्को यॄ करना चाहिए वा यॄ नहीं करना चाहिए जिसका भी कोई निर्णय नहीं है, इससे अलौकिक होनेसे सब ही भगवान्के चरित्र विचित्र है।।१६।।

आभासार्थ : सर्वके ही अलौकिकत्वकेलिए, सहज भी भगवान्का चरित्र परस्पर विरुद्ध दीखता है. इसकेलिए 'अनीह' श्लोक कहते हैं :

अनीह एतद्बहुधैक आत्मना सृजत्यवत्यत्ति न बध्यते यथा ।
भौमैर्हि भूमिर्बहुनामरूपिणी अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ।।१७।।

श्लोकार्थ : जैसे पृथ्वी पर एक होते हुए भी अपनेमूसे घट आदि पदार्थोंको उत्पन्नकर अनेक नाम रूपवाली होती है, वैसे ही आप भी एक हैं और चेष्टारहित हैं, तो भी इस नाना प्रकारके जगत्को उत्पन्न करते हो, उसकी रक्षा करते हो और फिर उसको अपनेमू लीन करते हो, याू करते हुए भी उसके बंधनमू नहीं आते हो, इसके दोषूसे स्वयं दोषवाले नहीं होते हो, अतः आपका यह चरित्र लोकानुकरण तथा विचित्र है।।१७।।

व्याख्यार्थ : लोकमू मिट्टीसे घट आदि जाू बनाते हैं वे इच्छासे युक्त होनेसे ही बनाते हैं, मन्त्रयोग आदिसे जो बनाते हैं वे भी मानसी क्रियाका अनुसन्धान करते हैं. अतः वहां भी मानसिक चेष्टा है, भगवान् तो चेष्टारहित ही हैं फिर एक हैं, दूसरे जिसको मनसे भी विचार नहीं सकते हैं, उसको भगवान् अनेक प्रकारसे कोटि ब्रह्माण्डूमू पृथक् पृथक् तरहके बनाते है. यहां भी विकृत न होकर स्वरूपसे ही बनाते हैं, बनाने पर उस कर्मसे बन्धनमू नहीं आते हैं. जैसे विकृत आते हैं, अन्यथा वह सृष्टि वैसी ही है, इसलिए आश्चर्य नहीं है. इस वास्ते कहते हैं कि पृथ्वीसे बने हुए घट शराब(सुराही या कुंजा) आदि पदार्थोंसे बहुत नाम और रूपूवाले होकर भी पृथ्वी अन्य नहीं होती है, वैसे ही भगवान् स्वयं नाना विधिरूप नाम होते हैं, फिर अधिकता तो उनमू यह हैं कि 'अविकृतत्व' नहीं आता अतएव भगवान्का यह अनुकरण भी विचित्र है, अथवा सर्व ही अनुकरण है।।१७।।

आभासार्थ : इस तरह भगवच्चरित्रका अघटमानपन सिद्धकर उपदेश पक्षमू श्रोताओूको समझानेकेलिए कहना उचित है, इसलिए 'अथापि' श्लोकसे उसका समर्थन करते हैं :

अथापि काले स्वजनाभिगुप्तये बिभर्षि सत्त्वं खलनिग्रहाय च ।
स्वलीलया वेदपथं पुरातनं वर्णाश्रमात्मा पुरुषः परो भवान् ।।१८।।

श्लोकार्थ : तो भी आप समय आने पर भक्तूकी रक्षा और खलूका निग्रह करनेकेलिए सत्व(शुद्ध)को धारणकर अवतार लेते हो और प्राचीन

वेदमार्गकी लीलासे रक्षा करते हो, आप वर्ण तथा आश्रमरूप होकर भी इससे पर पुरुष भी सदैव आप ही हो।।१८।।

व्याख्यार्थ : जब वैसा समय आता है, तब भक्तजनॣकी रक्षाकेलिए सत्त्वगुणको धारण करते हैं. यद्यपि साधारणतया सत्त्वको धारण ही किया हुआ है जिससे सर्वजनॣकी पालना हो रही है, तो भी यह सत्त्व उससे पृथक् है जिससे अवतार होते हैं. प्रथम ही सच्चिदानन्द, प्रकृति, अहंकार, बुद्धि और कालके गुणॣके भेद[१] कहे हैं. उसमॣ यह सत्त्व सद्रुप है, उससे ही भक्तॣकी रक्षा होती है. और खल जो दैत्य हैं, उनके नाशार्थ, सर्व पालक तो उनके नाशक नहीं किन्तु पालक ही हैं. 'च' पदसे दूसरे भी भक्तिके प्रवृत्त करनेवाले कार्य लिए जाते हैं. उस सत्त्वके स्वरूपमॣ स्थित स्वरूप धर्मका ग्रहण कैसे किया जाता है? इस आकांक्षामॣ कहते हैं, कि 'स्वलीलया' अपनी लीलासे, किञ्च उस सत्त्वसे वर्णाश्रमकी आत्मा हो पुरातन वेद पथका रक्षण करते हैं. पालन अर्थात् रक्षाका हेतु यह है, कि 'पुरातन' है यदि नूतन बनाया जावे तो बहुत दूसरे प्रकारके कार्य करने पड़ॣ. वर्णाश्रमात्मा तो पुरुष है, मैं तो नहीं, जैसा कि श्रुति कहती है 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत पुरुष एवं इदं' जिसके उत्तरमॣ कहते हैं कि 'भवानेव पुरुष' वह पुरुष आप ही हैं, क्यॣकि 'पर' हो, इससे यह सिद्ध किया कि ब्राह्मण आपके ही रूप होनेसे, अपने ही सब हैं अतः स्वयं ही है, इस वचनका समर्थन किया।।१८।।

१. सत्व, रज, तम ये प्रकृतिके गुण हैं, ये गुण गुणावतारॣने उन कार्योंकेलिए धारण किए हैं. अहंकारके गुण, मन इन्द्रियां और भूतॣकी उत्पत्तिके कारण हैं. बुद्धिके गुण 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानं' श्लोकमॣ कहे हैं. कालके गुण युगावतारॣमॣ प्रसिद्ध हैं. वर्णाश्रमात्मत्व 'ब्रह्मानतम्' श्लोकमॣ कहा है, आश्रमात्मत्वं, 'गृहाश्रमॣ जद्यनतः' यह कहा है. वह ही वेद पथका पालक पुरुष है.

आभासार्थ : इस प्रकार साधारण तथा वर्णाश्रमॣको कहकर ब्राह्मण वर्णमॣ 'ब्रह्म ते हृदयं' से विशेषता कहते हैं :

ब्रह्म ते हृदयं शुक्लं तपःस्वाध्यायसंयमैः।
यत्रोपलब्धं सद्व्यक्तमव्यक्तं च ततः परम् ।।१९।।

श्लोकार्थ : शुद्ध ब्राह्मण आपके हृदय हैं, क्यॣकि उनमॣ तप, स्वाध्याय और संयम है, जिनसे ब्राह्मणॣमॣ सत्रूप ब्रह्म प्रकट होता है, वह सत् ब्रह्म

अक्षरात्मक है, उस अक्षरसे परे जो पुरुषोत्तम है, वह आप हो।।१९।।

व्याख्यार्थ : 'ब्रह्म' पदसे ब्राह्मण जाति कही है, वह जाति आपका हृदय अर्थात् अन्तरंग शक्ति है, वे शक्तियां तीन[1] प्रकारकी होती हैं. विशेष कहते हैं कि 'शुक्ल' उनमॅू शुक्लका माहात्म्य कहते हैं कि तपस्या, स्वाध्याय और संयम ये उसके अंग हैं. जिस शुक्ल हृदयमॅू सद्रूप ब्रह्म प्रकट होता है, और अव्यक्त, जगत्का कारण, अक्षरात्मक है. 'च' शब्दसे आत्मारूप है यों कहा, उससे 'पर' पुरुषोत्तम आनन्दरूप है. तपस्या वानप्रस्थमॅू, वेद पाठ ब्रह्मचर्यमॅू, संयम परमहंस अवस्थामॅू, आश्रम त्रयमॅू ही सद् आदिकी अभिव्यक्ति होती है, इस प्रकार नियम सूचित किए हैं।।१९।।

१.शुक्ल, लोहित और कृष्ण. इनमूसे 'शुक्ल' ब्राह्मण क्यॅूकि सात्त्विक है. क्षत्रिय राजस और वैश्य रजो प्रधान होनेसे लोहित शक्ति हैं. शूद्र तमोगुणी होनेसे काली शक्तिवाले है इसलिए 'अंघ्रिश्रितकृष्णवर्णः' मॅू कहा है. चरणॅूमॅू आश्रित कृष्ण वर्ण होनेसे शूद्रॅूका कृष्ण वर्णत्व कहा है, कृष्ण अर्थात् काला, अशुद्ध हृदयवाला, शूद्र वर्ण है.

आभासार्थ : जो यॅू है, तो इससे क्या जिसका उत्तर देते हैं :

तस्माद्ब्रह्मकुलं ब्रह्मन् शास्त्रयोने त्वमात्मनः।
सभाजयसि सद्धाम तद्ब्रह्मण्याग्रणीर्भवान् ।।२०।।

श्लोकार्थ : हे शास्त्रके करणरूप ब्रह्मन्! इस सद्रूपका आश्रय आप होनेसे, आपकी उपलब्धि(प्राप्ति)के स्थानरूप ब्राह्मण होनेसे, आप ब्राह्मणॅूकी पूजा करते हो, इससे ब्रह्मण्य लोगॅूके अग्रणी भी आप ही हैं।।२०।।

व्याख्यार्थ : आप ब्रह्म कुलका आदर सत्कार और पूजन करते हो, इसमॅू एक कारण है, सद् आदिके धाम है, जैसा कि ऊपरके श्लोकमॅू 'यत्रोपलब्ध सद् व्यक्तं' कहा है, धाम पदका अर्थ, स्फूर्ति अथवा आश्रय है. हे ब्रह्मन्! संबोधन देनेका दूसरा हेतु यह है कि वह रूप होनेसे स्वयंका ही पालन करते हैं. फिर दूसरा हेतु कहते हैं, कि वेदके उत्पन्न कर्ता आप हैं, उनकी रक्षा करनेवाले ब्राह्मण ही हैं. इसलिए उनकी रक्षा करनी चाहिए अथवा 'शास्त्रयोनेः' षष्ठी विभक्ति हो तो उसका अर्थ आत्मनः करना, यॅू करने पर साधन और फल दोनॅू कहे, शास्त्र साधन और आत्मा फल, यद्यपि यह सब अन्यथा होता है, तो भी आप ब्राह्मणॅूके हितकारी ही हैं।।२०।।

आभासार्थ : इसी तरह भगवान् ब्राह्मणॄके हितकारी है यॄ जानकर संतुष्ट हुए और समझे कि हमको आज अपनी रक्षा करनेवाली निधि मिली, अतः हम कृतकृत्य हुए हैं जिसका 'अद्य नो' श्लोकमॄ वर्णन करते हैं :

अद्य नो जन्मसाफल्यं विद्यायास्तपसो दृशः ।
त्वया सङ्गम्य सद्गत्य यदन्तः श्रेयसां परः ।।२१।।

श्लोकार्थ : आज आपका मिलन हुआ. आप सत्पुरुषॄकी गति हैं, श्रेयमॄ जो सबसे उत्तम श्रेय है वे आप है. आपके दर्शनसे हमारी विद्या, तपश्चर्या और नेत्र सब सफल हुए हैं।।२१।।

व्याख्यार्थ : हमारा ऋषि वंशमॄ सत् जन्म हुआ है. उसका फल ब्रह्मकी प्राप्ति है, वह आज पूर्ण हुई है, अर्थात् ब्रह्म प्राप्त हुआ है. सब विद्याएं उनका फल सर्वज्ञता आदि पहले भी सिद्ध था, किन्तु भगवान्की लीलाका परिज्ञान नहीं था, वह आज हुआ है. यह विद्याका फल, तपस्वी तपस्यासे परमज्योति स्वरूप भगवान् अधोक्षजका साक्षात्कार करता है वह भी आज हुआ है, यों सर्व प्रकार कृतार्थता हुई है. हे निष्पापी! हे सर्व पापॄके मिटानेवाले यॄ दूसरा फल भी सूचित किया, जिसके पाप नष्ट हो गए हैं उससे या हमारे सम्बन्धसे, किसी प्रकारकी क्षति नहीं है. इसलिए आपसे मिलकर हमारे जन्मकी सार्थकता हुई है अर्थात् हमारा जन्म लेना सफल हुआ है. आप कैसे है? सत्पुरुषॄकी गति हो, अर्थात् उनको भी फलरूप आप ही प्राप्त होते हैं. 'गति'[१] शब्द स्त्रीलिंग इसलिए दिया है कि स्वरूपका ही फलपन एवं अविकृत्यपन है अर्थात् प्रभुका इंद्रिय आदि सर्व स्वरूप अविकारी है. अतः फलरूप भी है, साफल्यको सिद्ध करते हैं, कि जितने भी श्रेय हैं उन सबसे उत्तम श्रेय आप ही हैं जिससे उत्तमको श्रेय नहीं है अतः यह ही पर है।।२१।।

१.स्त्रियां स्वरूपसे मोहक है अतः उनका स्वरूप फलरूप है और अविकृतपन भी है, क्यॄकि उनको देखकर पुरुषॄमॄ विकार होता है, स्त्रियॄमॄ नहीं. इसी प्रकार प्रभु स्वरूप सौन्दर्यसे फलरूप तो हैं किञ्च अविकारी होनेसे भी फलरूप हैं.

आभासार्थ : इस प्रकार भगवान्का निर्दोषपूर्ण गुणत्व निरूपणकर श्रद्धातिशयके कारण 'नमस्तस्मै' श्लोकमॄ उनको नमस्कार करते हैं :

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्ने परमात्मने ।।२२।।

श्लोकार्थ : जिनकी मेधा(बुद्धि) अकुण्ठ है और जिसने अपनी महिमाको माया द्वारा छिपा दिया है, वैसे परमात्मा श्रीकृष्णको हम नमन करते हैं।।२२।।

व्याख्यार्थ : वह ही श्रीकृष्ण है, इसलिए 'कृष्णाय' कहा है. ब्रह्मवादमॄ तो सब ही साक्षात् भगवान् हैं कोई विशेष कम नहीं है यदि यॄ कहते हो तो इसका उत्तर यह है कि जिसकी मेधा कुण्ठित नहीं होती है वैसा तो श्रीकृष्ण ही है. इनके सिवाय, दूसरे रूपमॄ मेधाकी हानि कभी होती है, पश्चात् फिर मेधा आ जानेसे योजित पटकी तरह विलक्षणता होती है. उनमॄ मेधाकी सर्वदा समानता नहीं है. भगवान्मॄ यॄ नहीं है, इसलिए भगवान्की बुद्धिका अकुण्ठत्व कहा है. यह जीवॄमॄ नहीं होता है, इसलिए साक्षात् अविकृत, ब्रह्म ही है. ब्रह्मत्व ही अविकृत है, यदि विकृतत्व ब्रह्ममॄ नहीं, सदा समता है तो सब आपको क्यॄ नहीं जान सकते हैं? जिसका हेतु कहते हैं कि 'स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्ने' अपने साधनपनसे स्वीकृत मायासे अपनी महिमाको छिपा लिया है अर्थात् जिनकी दृष्टिको मायाने आच्छादन्न कर दिया है वे भगवान्के माहात्म्यको नहीं देख सकते हैं.

विषयाच्छादनं स्वार्थं चेतने नोपपद्यते।
अन्यार्थमेव तद्युक्तमात्मस्थे विषयेऽपि च।।का.६।।

अपने लिए विषयका आच्छादन चेतन(ब्रह्म)मॄ नहीं बनता है विषय आत्मामॄ स्थित होते हुए भी वह आच्छादन दूसरॄकेलिए करना उचित है.

भगवान् सर्वात्मा हैं अपने प्रति ही कैसे आच्छादन[१]? यदि यॄ कहो तो इसका उत्तर यह है कि जैसे जलरूप गंगा और देवतारूप गंगाका परस्पर अन्तर है वैसे ही आत्मा और परमात्मामॄ भी विलक्षणता है. जैसे जलके देखते हुए भी गंगा देवताके दर्शन नहीं होते हैं, वह जलसे तिरोहित है वैसे ही परमात्मा भी।।२२।।

आभासार्थ : इस कारणसे ही इनको कोई भी नहीं जान सकता है यॄ 'न यं विदन्ति' श्लोकसे कहते हैं :

न यं विदन्त्यमी भूपा एकारामाश्च वृष्णयः।
मायाजवनिकाच्छन्नमात्मानं कालमीश्वरम्।।२३।।

श्लोकार्थ : ये भूपति तथा साथमॄ रहने एवं खेलनेवाले यादव भी जिसको नहीं जान सके हैं, क्यॄकि उस आत्मारूप कालरूप एवं ईश्वररूपने

अपनेको मायारूप पट(पर्दे)से छिपा लिया है।।२३।।

व्याख्यार्थ : ये राजा जिसके स्वरूपको नहीं जानते हैं, यदि जानते हैं तो उनके साथ इस प्रकारका व्यवहार नहीं करते, उनका दोष नहीं, क्यूंकि उनको इनके साथ संग नहीं है. यह आपका कहना भी व्यर्थ है क्योंकि 'एकारामाः' एक ही स्थान पर आराम करनेवाले हैं. 'च' पदसे बताया है कि जन्मसे लेकर सब क्रियाएं एक ही स्थान पर साथमूं रहते ही करते थे. यादव भी वैसे ही करते थे यह प्रसिद्ध ही है, यूं साथ रहते हुए भी नहीं जानते हैं. उस हेतुकी याद दिलवाते हैं कि 'मायाजवनिकाच्छन्नं' यह मेरा पुत्र है, यह भाई है, यह पिता इसी प्रकारकी बुद्धि करानेवाली मायासे छिपे हुए हैं. वे तो स्वभावसे हीन हैं, अतः भगवान्को नहीं जान सकते हैं. मायारूप आच्छादनकी क्या आवश्यकता है? यदि यूं कहते हो तो इसका उत्तर यह है, कि 'आत्मानं' आत्मरूप अपनेको, इससे उनको संसारका बाध भी न होवे, यूं लीलाका बाध निरूपण किया. इस समय यह कालरूप हैं, यदि अपनेको जनावे तो वे मारे नहीं जावे, विशेषमूं ये ईश्वर हैं, ईश्वर तो गुप्त ही रहते हैं यूं।।२३।।

१.भगवान् अपनी शक्तिसे जो आच्छादन करते हैं, वह अपने लिए नहीं किन्तु दूसरे मेरे स्वरूपको न देख सकूं, इसलिए करते हैं .

आभासार्थ : जब सब आत्मा है, तब व्यवधान हो नहीं सकता है तो दूसरे क्यूं नहीं जान सकते हैं? इसका उत्तर 'यथा शयान' श्लोकमूं देते हैं :

यथा शयानः पुरुष आत्मानं गुणतत्त्वदृक्।
नाममात्रेन्द्रियाभातं न वेद रहितं परम् ।।२४।।

श्लोकार्थ : जैसे सोया हुआ पुरुष, नाम, विषय और इन्द्रियोंमूं सत्यता मानता है, कारण कि स्वप्नमूं उसको आत्माका अनुभव नहीं होता है किन्तु नाम, विषय और इन्द्रियोंको ही आत्मा समझता है वह आत्माभास है, इससे परमात्माको नहीं जान सकता है।।२४।।

व्याख्यार्थ : जैसे नींद आत्मज्ञानमूं रुकावट है, वैसे ही अविद्या अथवा भगवदीया माया, उनकी आत्माके अज्ञानमूं हेतु है, यूं कहनेकेलिए कि मायाके पर्देसे आत्मा आच्छन्न है, इसको दूसरे प्रकारसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हुए कहते हैं, कि जैसे सोया हुआ पुरुष आत्माके नाम, विषय और इन्द्रियोंमूं ही प्रतीति करता है, उससे परे कुछ नहीं जानता है, यूं जाननेमूं हेतु कहते हैं कि

'गुणतत्त्वदृक्' स्वप्नमृ देखे हुए विषयामृ ही परमार्थ बुद्धिवाला होता है, जो जान जावे, कि ये जो अब देह क्रिया सहित अनुभवमृ आ रहे हैं वे सब झूठे हैं तो जाग्रत् अवस्थावाली आत्माको पहचाने ही यदि कहो कि वहां भी आत्मानुभव है? जो वह सत्य है, तो भी नाम अर्थात् उस समयके देवदत्त आदि रूप, विषय और इन्द्रियामृ उतनेमृ ही आभासित होनेसे वे ही अहंताके कारण ग्रहण किए हैं. इस प्रकार आत्माभासकी ही प्रतीति है, न कि आत्माकी प्रतीति है, दोनाृका निषेध करते हुए कहते हैं, कि 'न वेद रहितं परमं' पूर्व कहे हुए नाम आदिसे रहित जो परमात्मा है, उसको वह शयन करनेवाला नहीं जानता है।।२४।।

आभासार्थ : इस प्रकार दृष्टान्त कहकर 'एवं त्वाऽयं' श्लोकमृ दार्ष्टान्तिकमृ घटाते हैं :

एवं त्वाऽयं जनो ब्रह्मन् नाममात्रेन्द्रियेहया।
मायया विभ्रमच्चित्तो न वेद स्मृत्युपप्लवात्।।२५।।

श्लोकार्थ : हे ब्रह्मन्! जैसे स्वप्नके देहकी आत्मा यह देह है, वैसी ही इस देहकी आत्मा भगवान् है, नाम विषय और इन्द्रियाृकी मायासे चित्त भ्रममृ पड़ जाता है, जिससे आपको नहीं जान सकता है. जीवकी स्मृति जन्म और मरणके चक्रमृ फिरनेसे नष्ट हो जाती है, जिससे वह यह ही है, याृ नहीं जान सकता है।।२५।।

व्याख्यार्थ : जैसे स्वाप्निक देहकी आत्मा यह देह है वैसे ही इस देहकी आत्मा भगवान् है, इस कारणसे भगवान्का अज्ञान नहीं कहना चाहिए, क्याृकि स्वप्नमृ यह देह ही नहीं है, इससे विलक्षणता है. यदि देह नहीं है तो देह कहां गई? उसके आधार पर तो उस स्वाप्निक प्रपंचकी उत्पत्ति है, अन्यथा उसके चलानेमृ उसका जाना नहीं हो सके, तो भी वह पृथक् नहीं भासता है? यदि याृ कहो तो इसका उत्तर यह है कि वह परिच्छिन्न है इसलिए उसका स्थानीय दूसरा स्वीकार किया है. याृ, असमर्थ होनेसे उसका भान नहीं होता है, भगवान् तो व्यापक और सर्व समर्थ हैं इसलिए पृथक् भी उनका भान हो सकता है, इतनी भगवान्मृ जीवसे विशेषता है. अज्ञान तो तुल्य है, वह बताते हैं, कि नाम, विषय और इन्द्रियामृ ही चलनेसे उनमृ ही आत्मबुद्धि उत्पादन करनेवाली एवं अन्यथा बुद्धि करनेवाली चेष्टासे जिसका चित्त भ्रमित हो गया है, वह परमार्थसे आत्मस्वरूप आपको नहीं जानता है, इससे आत्मा और परमात्माके भावमृ भेद

अंगीकार न करते हुए भी भगवान्के अज्ञानका समर्थन किया है. संसार अनादि सिद्ध होनेसे गुरु शास्त्र और तपस्याआृसे कदाचित् भगवान्का अनुभव सम्भव है अथवा आत्मानुभव भी संभव है, इस कारणसे अभी भगवान्को देखकर भी 'वह यही है', यो प्रतीति क्याृ नहीं होती है? इसके उत्तरमृ कहते हैं, कि, जीवकी स्मृति, जन्म और मरणके चक्रमृ बारबार फिरनेसे नष्ट हो जाती है।।२५।।

आभासार्थ : वैसे जो आप हैं उनका आज दर्शन किया अतः अपनी कृतार्थता कहकर 'तस्याद्यः' श्लोकसे कृपा करनेकेलिए प्रार्थना करते हैं :

तस्याद्य ते ददृशिमांघ्रिमघौघमर्ष तीर्थास्पदं हृदि कृतं सुविपक्वयोगैः ।
उत्सिक्तभक्त्युपहृताशयजीवकोशा आपुर्भवद्गतिमथोऽनुगृहाण भक्तान्
।।२६।।

श्लोकार्थ : पाप पटल(समूह)को नाश करनेवाली, गंगाजीके उत्पत्ति स्थान परिपक्व योगवाले योगी जन भी जिनका केवल हृदयमृ चिंतन कर सकते हैं, उन आपके चरणारविन्दका बहुत पुण्याृके प्रतापसे आज प्रत्यक्ष दर्शन हुआ है, सो हमृ भक्त जानकर अनुग्रह कीजिये, भक्तिके सिवाय आपके चरणकी प्राप्ति नहीं होती है, वृद्धिगत भक्तिसे ही जिनके लिंग आदिका नाश हो गया है वे ही आपको प्राप्त कर सकते हैं।।२६।।

व्याख्यार्थ : जो कभी भी नहीं पाया और जो सर्व फल है, वह आज देखा ही है, इसमृ भी जैसे सर्वथा दर्शन होता है, उस उपाय सहित देखा है यो जतानेकेलिए कहा है कि 'तस्यांघ्रि ददृशिमे' उनके चरणारविन्दको देखा है, सर्वदा साक्षात्कार हेतुपनमृ चरणका तीन विशेषणाृसे प्रकार कहते हैं

'मलापकर्षणं[1] पूर्वशुद्ध्यादि गुण योजनम्
ततश्चफलरूपं च योगसाधनभावितम्'

कि जिससे पाप समूहका नाश हो जाता है, शुद्धि आदि हो जाती है किञ्च गंगा आदि तीर्थोंकी उत्पत्तिस्थान, तत्पश्चात् जिनका योग सिद्ध हो गया है उन्हाृने हृदयमृ फलरूप जानकर धर लिए हैं, वैसे चरणाृको जो हम प्राप्त हुए हैं अर्थात् पा सकृ है, तो क्रमसे हृदयमृ विराजृगे, इससे आगे सब सिद्ध होगा. याृ कहकर अपने भाग्यका अभिनन्दन किया है. तुम आगे कैसे मुक्त होवोगे? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए, उसका प्रकार बताते हैं. मर्यादाका उल्लंघन कर जो भक्ति बढेगी उससे अपने आशय जीवकोश आदि सर्व भगवान्को अर्पित हो जायृगे, संघातसे आत्मा

और उसकी उपाधि दोनॄ आन्तरपनके जतानेकेलिए पृथक् कर निरूपण किए हैं, अथवा आशय ही जीवकोश है, इस प्रकार उपाधि समर्पण कर देनेसे आशा है, कि हम केवल भगवद्गतिको प्राप्त हॄगे. 'आशंसायां भूतवच्च' इस नियमानुसार 'आपुः' यह लिट् लकार लृटके स्थान पर दिया है, 'अथ' पदका आशय है कि हम आपके ही भक्त हैं, इसलिए हम भक्तॄ पर कृपा कर अपना लीजिए यह प्रार्थना है।।२६।।

१.अर्थ: पहले मलका छूटना, फिर जिससे शुद्धि आदि गुणॄको युक्त करना पुन: योग साधन भावित फलरूप है.

आभासार्थ : यॄ प्रार्थना की, भगवान् मौन रहे जिससे मुनियॄने समझा कि हमारी प्रार्थना भगवान्ने स्वीकार की है यॄ समझ वहांसे जानेकी तैयारी की जिसका वर्णन 'इत्यनुज्ञाप्य' श्लोकमॄ शुकदेवजी करते हैं :

श्रीशुक उवाच

इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरम् ।
राजर्षे स्वाश्रमान् गन्तुं मुनयो दधिरे मनः ।।२७।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि, हे राजर्षि! भगवान्से, धृतराष्ट्र और युधिष्ठिरसे आज्ञा लेकर मुनियॄने अपने आश्रमको जानेका मन किया।।२७।।

व्याख्यार्थ : पहले सेवक जिनको प्यारे हैं, वैसे श्रीकृष्णसे और इनके भक्त धृतराष्ट्र तथा युधिष्ठिरसे जानेकी आज्ञा ली, धृतराष्ट्र और युधिष्ठिर दोनॄ वृद्ध और भक्त कहे, संबोधन 'राजर्षे' विश्वासकेलिए दिया है, पश्चात् अपने आश्रमकी तरफ जानेका मन किया।।२७।।

आभासार्थ : इस प्रकार निवृत्ति परायण मुनियॄकी फल सिद्धि कहकर प्रवृत्तिके परायणॄकी फल सिद्धिकेलिए अन्य प्रकार कहते हैं :

तद्वीक्ष्य तानुपव्रज्य वसुदेवो महायशाः ।
प्रणम्य चोपसंगम्य बभाषेदं सुयन्त्रितः ।।२८।।

श्लोकार्थ : यह सब देख, जब उन्हॄने जानेका मन किया तब उनके निकट महा यशस्वी वसुदेव आकर प्रणामकर विनयसे यॄ कहने लगे।।२८।।

व्याख्यार्थ : वसुदेवजी उन ऋषियॄको उत्तम जानते हैं, अतः अपनेको कृतार्थ करनेकेलिए उनसे पूछनेका प्रयत्न करते हैं, अतः उनके निकट आकर

नमस्कार कर एवं स्तुतिकर विनयी हो निम्न श्लोकसे पूछने लगे. वसुदेवजीने अपने निस्तारकेलिए जो यत्न किया उसका कारण है, कि वह महान् यशस्वी थे यॄ कहनेकेलिए दृष्ट उपाय भी कहा कि प्रणाम, स्तुति और विनय भी की, जिनसे उसका महान् यशस्वी होना सिद्ध किया है।।२८।।

आभासार्थ : 'नमो वः सर्वदेवेभ्य' श्लोकसे प्रार्थना करते हैं :

वसुदेव उवाच

नमो वः सर्वदेवेभ्य ऋषयः श्रोतुमर्हथ।

कर्मणा कर्मनिर्हारो यथा स्यान्नस्तदुच्यताम्।।२९।।

श्लोकार्थ : वसुदेवजी कहने लगे, कि हे ऋषियॄ! सब देवॄके निवासरूप आपको मैं प्रणाम करता हूं, मेरी प्रार्थना सुननेकेलिए योग्य हो वह कर्म करनेका प्रकार बताईये, जिस भांति कर्म करनेसे कर्म नाश हो।।२९।।

व्याख्यार्थ : यद्यपि ये ऋषि हैं, तो भी 'यावतीर्वै देवताः' इत्यादि श्रुतियॄके अनुसार इनमॄ सब देव स्थित है, यॄ कहनेसे यह सिद्ध किया है कि देव आपके आधीन है, जिससे ऋषियॄकी स्तुति भी की है. हे ऋषयः! इस सम्बोधनके देनेसे यह दिखाया है कि आप अलौकिकको देखनेवाले हैं, अतः मेरे स्वरूपको आप जानते ही हैं, इसलिए कहता हूँ, कि जो मैं प्रार्थना करूंगा, उसको सुननेके योग्य आप हो अतः ध्यान देकर सुनोगे. वह प्रार्थना कहते हैं, कि जैसे कर्मसे कर्मका नाश हो जाय वह कर्म करनेका उपाय बताईये. ज्ञानसे तो कर्मका नाश सुप्रसिद्ध ही है, जिससे ''ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेर्जुन'' यह गीताका वचन प्रमाण है, कर्म अपने सजातीय कर्मको नष्ट नहीं कर सकता है. यद्यपि प्रायश्चित करनेसे कर्मका नाश होता है, किन्तु वह कर्म नहीं है. अकर्म कर्मको नाश करता है या विपरीत करता है, विधिके बलसे विहित कर्म, निषिद्ध कर्मको नाश करता है, जैसे प्रायश्चित, अथवा जैसे नखॄका जल पूर्व पुण्यको नाश करता है, तो भी सजातीय, सजातीयका नाश नहीं कर सकता है. नखॄके जल आदिमॄ कर्म नाशकी शक्ति इसलिए हैं कि पाप अधर्मसे उत्पन्न होता है अतः उस पापको नख जल नाश करता है इसीसे वह नाश दुःख ही सम्पादन करता है, संसारकी निवृत्ति नहीं करता है. यदि यॄ न होता तो महान् पुरुष ज्ञानकी तरह यॄ करनेका प्रयत्न करने लग जावे, अतः वैसी कर्म निवृत्तिकी मुझे अपेक्षा है जिसके होनेसे संसार ही मिट जावे. यदि संसारकी निवृत्तिकी ही प्रार्थना

करते, तो ज्ञानादिकका ही उपदेश दे देते. ज्ञान तो गृहस्थीको सिद्ध नहीं हो सकता है, इसलिए वसुदेवजीने ऐसी प्रार्थना ही नहीं की है, और ऋषियोंने भी ऐसा समझ ज्ञानोपदेश सार्थक न समझा क्योंकि गृहस्थकेलिये ही अर्जुनको कहा कि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' तेरा कर्मका ही अधिकार हैं, इसलिए किसी प्रकार किए हुए कर्मसे ही संसारका हेतुभूत कर्मका नाश हो वह कर्म करनेका उपाय मुझे कहिए. इस प्रकारके वसुदेवजीके प्रश्न करने पर ऋषियोंको फिर पहलेकी तरह संदेह हुआ कि, जैसे ईश्वर होते हुए भी भगवान्ने विपरीत वाक्य कहे, और उसका भाव थोड़ा सा वर्णन भी किया है इसी प्रकार वसुदेवजी भी मुक्त ही हैं, समस्त पुरुषार्थ सिद्धिवाले हैं. फिर विपरीतकी भांति प्रथम कर्मका नाश पूछते हैं, किस अभिप्रायसे पूछते हैं? क्या हमारी परीक्षा लेते हैं? अथवा दूसरा कोई कारण है।।२९।।

आभासार्थ : इस प्रकार ऋषियोंको संदेह हुआ है यों जानकर नारदजी स्वयं 'नातिचित्रमिदं विप्रा' श्लोकमें इनकी शंका निवृत्त करते हैं :

नारद उवाच

नाति चित्रमिदं विप्रा वसुदेवो बुभुत्सया।
कृष्णं मत्वार्भकं यन्नः पृच्छति श्रेय आत्मनः ।।३०।।

श्लोकार्थ : नारदजीने कहा कि, हे विप्रो! श्रीकृष्णको अपना पुत्र जानकर, वसुदेवजी अपने कल्याणके साधन जाननेकी इच्छासे, अपनेसे प्रश्न कर रहे हैं, इसमें कोई भी आश्चर्यकी बात नहीं है।।३०।।

व्याख्यार्थ : यह वसुदेवजीका वाक्य आश्चर्य करनेवाला नहीं हैं, 'अपि' शब्दसे यह कहा है, कि गम्भीर अर्थवाला भी नहीं है, अपने कल्याणके साधनको जाननेकी इच्छासे आपसे पूछा है क्योंकि आप विप्र हैं अर्थात् उनकी कामनाके पूरक हैं, इसलिए आपसे प्रश्न किया है. यदि कहो कि केवल जाननेकी इच्छासे ही पूछा है, तो श्रीकृष्णसे क्यों नहीं पूछ लिया? जिसका उत्तर नारदजीने दिया है कि वे श्रीकृष्णको अपना पुत्र मानते हैं, मुझसे उत्पन्न हुआ बालक, जो मैं नहीं जानता हूं, वह कैसे जानता होगा? किञ्च 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस वचनके अनुसार वसुदेवजीकी दृष्टिमें वे बालक ही दीखते हैं अतएव हमको, स्थूल पंडित, अर्थात् बड़े ज्ञानी, जानकर ही हमसे पूछ रहे हैं।।३०।।

आभासार्थ : वसुदेवजी यों जानते हैं कि कृष्ण सर्वेश्वर भगवान् हैं,

जिसका उत्तर 'संनिकर्षोऽत्र मर्त्यानां' श्लोकमृ देते हैं :

सन्निकर्षोत्र मर्त्यानामनादरणकारणम्।
गाङ्गं हित्वा यथान्याम्भस्तत्रत्यो याति शुद्धये ।।३१।।

श्लोकार्थ : इस जगत्मृ निकट रहना, अनादरका कारण है. देखो गंगा पर रहनेवाले गंगाके जलके माहात्म्यको न जानकर शुद्धिकेलिए दूसरे जलसे स्नान करनेकेलिए जाते हैं।।३१।।

व्याख्यार्थ : अनादरका कारण निकट रहना ही है, मनुष्य यॄ जानते हैं कि मनुष्य देहधारी सब ही मरनेवाले हैं तो विशेष कौन है? सब एक समान ही हैं, इसलिए अनादर है, असंभावित(विशेष उत्तमता नहीं है) यॄ मानकर अनादर करते हैं, जिसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, गंगा पर रहनेवाला, गंगाजीके प्रवाहमृ स्नान करके भी, फिर अपनेको अशुद्ध समझनेसे घरमृ आकर दूसरे जलसे स्नान करता है, तब शुद्ध समझता है इसलिए 'शुद्धये' कहा है, जिसका कारण यह है कि वह गंगा पर रहनेवाला गंगा जलको भी साधारण जल मानता है, उसके माहात्म्यको नहीं जानता है।।३१।।

आभासार्थ : स्वयं नारद, भगवान्का माहात्म्य कहते हैं :

यस्यानुभूतिः कालेन लयोत्पत्त्यादिनास्य वै।
स्वतोऽन्यस्माच्च गुणतो न कुतश्चन रिष्यति ।।३२।।

श्लोकार्थ : जिनका ज्ञान, किसी कालमृ,(प्रलय होने पर भी) इस जगत्की उत्पत्ति और प्रलय आदि करनेसे, आपसे, दूसरेसे, गुणान्तर होनेसे भी, किसीसे नाश नहीं होता है।।३२।।

व्याख्यार्थ : ऋषियॄको ज्ञान तो शास्त्र आदिसे प्राप्त हुआ है, तो भी वह ज्ञान फटे कपड़ेको फिर सीं कर जोड़नेके समान होनेसे उत्कृष्ट ज्ञान नहीं है, भगवान्का ज्ञान तो कभी भी टूटता नहीं है, उसका वर्णन करते हैं, प्रलयसे जिसका अनुभव नाश नहीं होता है, जिन लय उत्पत्त्यादि हेतुओंसे प्रलयमृ अनुभवका नाश होता है उनका भी निषेध करते हैं कि लय और उत्पत्ति आदिसे भी ज्ञान नष्ट नहीं होता है, जब प्राणी मरता है तब पहला अनुभव नाश हो जाता है, जब भी फिर उत्पन्न होता है तब भी लोकान्तरमृ किया हुआ अनुभव नाश हो जाता है. इसी तरह महाव्याधि अपस्मार आदिसे भी पूर्व अनुभवका नाश होता है, वह एक भी भगवान्मृ नहीं होता है, कभी स्वतः भी अनुभवका नाश हो जाता है,

जब संस्कारको उत्पादन नहीं करता है, कार्य और कारणके अभेद होनेसे ऐसा वचन है. दूसरी तरहसे अर्थात् द्रव्यान्तर अथवा शापादिसे भी अनुभव नष्ट होता है. 'च' पदसे यह बताया है कि बहुत काल हो जानेसे विरुद्ध ज्ञानके उत्पन्न होनेसे भी अनुभव नष्ट होता है. 'गुणतो' रजो तमो गुणके प्रगट होनेसे भी अनुभव नाश होता है. अन्तमॄ 'न कुतश्चन' पदसे यह बताया है कि उपर्युक्त कारणॄसे और जो नहीं कहे हुए हैं उन सबसे भगवान्का ज्ञान नष्ट नहीं होता हैं, ऋषि आदि जीव मात्रका कारणॄसे अनुभव नाश हो जाता है।।३२।।

१.पहले जन्मका, अर्थात् जिस देहका त्याग करता है उस द्वारा किया हुआ अनुभव.

आभासार्थ : यॄ भगवान्के माहात्म्यका वर्णनकर, उसको वसुदेवजी ही जानते हैं, अतः उसका दोष 'तं क्लेश' श्लोकसे कहते हैं :

तं क्लेशकर्मपरिपाकगुणप्रवाहैरव्याकृतानुभवमीश्वरमद्वितीयम् ।
प्राणादिभिः स्वविभवैरुपगूढमन्यो मन्येत सूर्यमिव मेघहिमोपरागैः ।।३३।।

श्लोकार्थ : जैसे मनुष्य सूर्यको बादलॄसे आच्छादित, हिम(पाले)से निस्तेज और राहुसे ग्रसित मानते हैं वैसे ही अद्वितीय, अव्याकृत ज्ञानस्वरूप ईश्वरको क्लेश, कर्म, सुख, दुःख गुणॄके प्रवाह और अपने कार्यरूप प्राणादिकॄसे आच्छादित समझ उस ईश्वरको जीव मानते हैं।।३३।।

व्याख्यार्थ : उस(ईश्वर)को अपने ही उत्पन्न प्राणादिसे वशीकृत जीव समझते हैं. वे निश्चयसे अध्यासको कारणपनसे नहीं जानते हैं, किन्तु केवल सम्बन्ध हैं, अर्थात् जीवको प्राणादि अध्यास कारणसे वश करते हैं किन्तु भगवान्को अध्यास नहीं अतः अध्याससे वश नहीं है यो समझना भूल है, वहां केवल सम्बन्धमात्र ही है. जिस प्रकार जेलमॄ चोर भी है और अधिकारी भी है, भ्रान्त पुरुष दोनॄको समान ही समझता है. वास्तवमॄ यॄ नहीं है, चोर दोषी है, अधिकारी निर्दोष है. इसको समझानेकेलिए कहते हैं, कि भगवान्को देहादि विषय अध्यास नहीं है, दोषॄका अभाव और गुणॄको बताते हैं. शास्त्रॄसे 'अविद्यास्मितारागद्वेषभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः' सिद्ध है, यहां तो संसारके दुःखॄका अनुभव ही क्लेश है, उसका साधक कर्म है. दूसरे मत मॄ, अविद्यादि क्लेश पञ्चकॄसे साध्य है, उसका परिपाक है जाति, आयु और भोग अथवा देह सम्बन्ध, उसमॄ जो गुण प्रवाह है अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी परम्परा है. इस प्रकार अज्ञानसे लेकर संसार प्रवाह तक निरूपण किया. इन सबसे भी

जिसको विशेषरूपसे व्याकृतिरहित अनुभव है, यहां अनुभव पदका तात्पर्य स्वरूप है. ज्ञानका नाश नहीं होता है यह पहले ही निरूपण किया है. अथवा यॄ उसका ही यह अनुवाद है, ज्ञानका नाश क्यॄ नहीं होता है? जिसका कारण है कि आप ईश्वर हैं, ईश्वरके अनुभवका नाश करनेमॄ कोई समर्थ नहीं है, उससे भी कोई दूसरा वैसा अधिक हो वह नाश कर दे, यदि यॄ कहो तो इसका उत्तर है कि भगवान् अद्वितीय हैं अर्थात् भगवान्के समान कोई अन्य है ही नहीं, न समान है, और न उनसे बढ़कर कोई है, अपने आधिदैविक अपनी स्वरूपभूत प्राणेन्द्रिय अन्तःकरण देहरूप अपनी विभूतियॄसे, आप ही वैसे हुए हैं, अथवा उन स्वरूपभूत प्राणादिसे लीला करनेकेलिए अपनेको छिपा रखा है, जिससे भ्रमित हमारे जैसे जीव, उनको अपने समान मानते हैं. इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि कैसा मानते है? सूर्यकी भांति मानते हैं, जैसे मनुष्य सूर्यको बादलॄसे आच्छादित, (हिम)पालेसे निस्तेज और राहुसे ग्रसित मानते है, वैसे ही भगवान्को अविद्यासे ग्रस्त, तृष्णा आदिसे निस्तेज और शरीरसे आच्छादित मानते हैं. वास्तविक तो सूर्यका मेघ आदिसे सम्बन्ध ही नहीं है, क्यॄकि सूर्य और मेघ आदिका परस्पर बहुत अन्तर है, इसी तरह अन्य अर्थात् भगवान् भी अविद्याआॄसे ग्रस्तादि हैं यह झूठ है, मनुष्यॄको अविद्याके कारण केवल भ्रम हैं. भगवान् वैसे कैसे हॄगे? भगवान्का प्रकार तो कहा ही है।।३३।।

आभासार्थ : इस तरह उसका भ्रान्तपन कहकर, वैसे भगवान्को अपने निस्तारकेलिए सत्य ही प्रार्थना करते हैं, यॄ समर्थन हो जाने पर निशंक हो 'अथोचुः' श्लोकसे ऋषि उत्तर देनेकेलिए प्रवृत्त हुए :

श्रीशुक उवाच

अथोचुर्मुनयो राजन्नाभाष्यानकदुन्दुभिम्।
सर्वेषां शृण्वतां राज्ञां तथैवाच्युतरामयोः ।।३४।।

श्लोकार्थ : हे राजन्! पश्चात् सब मुनियॄने वसुदेवजीको सावधानकर सब राजाआॄ और राम कृष्णके सुनते हुए, वसुदेवको कहा।।३४।।

व्याख्यार्थ : मुनि होनेसे वे ज्ञानी हैं अतः सब जानते हैं, राजन्! सावधान करनेकेलिये संबोधन है. 'आभाष्य' इससे वसुदेवको कहा है कि सावधान होकर सुने क्यॄकि वह वसुदेव आनकदुन्दभि होनेसे महान् है. 'सर्वेषां शृण्वतां' सर्वके सुनते हुए पदसे मुनियॄको यॄ कहनेमॄ उत्साह था यह सूचन किया है. भगवान्

कृष्ण और रामके भी सुनते हुए कहने लगे, याॅ कहनेका अभिप्राय है कि हम जो कह रहे हैं वह युक्तिपूर्वक है और शास्त्रीय सिद्धान्तके विरुद्ध नहीं हैं. ऐसा हो तब ही भगवान् सुनते हैं, इसलिए कहॅगे, याॅ जताया।।३४।।

आभासार्थ : कर्म निर्हारका प्रकार 'कर्मणा कर्म निर्हारा' सात श्लोकसे कहते हैं :

मुनय ऊचुः

कर्मणा कर्मनिर्हार एष साधुनिरूपितः।

यच्छ्रद्धया यजेद्विष्णुं सर्वयज्ञेश्वरं मखैः ।।३५।।

श्लोकार्थ : आपने कर्मसे कर्मका नाश हो ऐसा प्रश्न किया है, इसका जो प्रकार है वह सर्व वादियोंने अच्छी तरह सिद्ध किया है कि श्रद्धापूर्वक सर्व यज्ञोंके ईश्वर विष्णुका पूजन करना है, अर्थात् सर्व यज्ञेश्वर विष्णुके यजन कर्मसे कर्मका नाश होता है।।३५।।

व्याख्यार्थ : आदिमॅ प्रकार कहते हैं. 'कर्मसे कर्मका नाश' जिस प्रकार हो वह जो हम आगे कह रहे हैं, उसको सब सिद्धान्तवालोंने श्रेष्ठ निरूपण किया है, याॅ प्रमाण हैं. वह कौन सा प्रकार है, इसकी अपेक्षा होने पर कहते हैं कि, श्रद्धासे सर्वांग विष्णुका यजन करना, यह जो कर्म है उससे कर्मका[१] नाश होता है. वहां 'विष्णु' पदका भावार्थ, इन्द्रियोंका अधिष्ठाता देव भी है, इसलिए गुरु और ब्राह्मणादिकी चरणपूजासे भी परम्परा द्वारा विष्णुयाग होता है, इसकी निवृत्ति करनेकेलिए यहां 'सर्वयज्ञेश्वर' पद दिया है. जिसका भावार्थ है कि वसुदेवको समझाना है कि गुरु और ब्राह्मणपूजासे जो परम्परा द्वारा विष्णुयाग माना जाता है उस विष्णुयाग कर्मसे कर्म निर्हार नहीं होगा, किन्तु सर्वयज्ञोंका ईश्वर जो विष्णु, यज्ञवाराहरूपसे प्रकट हुए थे वह यहां अभिप्रेत है, उनके चरण पूजन कर्मसे ही कर्म निर्हार होगा. जैसा कि कहा है 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतिः 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' इस श्रुतिमॅ जो द्वितीया विभक्तिमॅ 'यज्ञं' यज्ञ शब्द दिया है वह यज्ञरूप 'विष्णु' अभिप्रेत है, वे तो यज्ञोंसे पूजित होते हैं इसलिए कहते हैं 'मखैः' यज्ञोंसे, ईश्वर पदसे यज्ञोंमॅ ही भगवान्का नियोग है इसलिए भगवान्की आज्ञाका पालन करना चाहिए, यों प्रमाणका भी सूचन किया।।३५।।

१.कर्मका नाश जिसका तात्पर्य है कि श्रद्धापूर्वक विष्णुके यजनसे जीव कर्मके फलरूप स्वर्गादि लोकको प्राप्तकर भगवद्भक्ति प्राप्तकर सायुज्यादि मुक्ति पाता है.

आभासार्थ : सेवा आदि भी पञ्चरात्र आदि आगमनमॄ कही है और उत्सव भी कहे हैं. फिर वैष्णव मार्गका त्यागकर श्रौतमार्ग ही कैसे निरूपण किया ? यदि यॄ कहो, तो इसका उत्तर 'वित्तस्योपशमोऽयं' श्लोकमॄ देते हैं :

वित्तस्योपशमोऽयं वै कविभिः शास्त्रचक्षुषा ।
दर्शितः सुगमो योगो धर्मश्चात्मसुखावहः ।।३६।।

श्लोकार्थ : विद्वानॄने शास्त्र दृष्टिसे वित्तस्योपशम और मोक्षका उपाय तथा अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाला सुगमधर्म भी यह बताया है।।३६।।

व्याख्यार्थ : यह प्रकार विद्वानॄने धन होते हुए ही बताया है अर्थात् जिनके पास धन है, वे यज्ञॄ द्वारा विष्णुका पूजन करॄ, वैष्णव मार्ग तो जो अकिञ्चन हैं, उनकेलिए ही है. हमने जो यागादि, प्रकार कहा है वह धनाढ्यॄकेलिए ही है. क्यॄकि यॄ करनेसे वित्तसे जो अनर्थ होते हैं वे नहीं ह्यॄगे. यदि कहो, कि शरीर भी यज्ञद्वारा भगवान्के कार्योंमॄ लग जाता है, तो यह युक्ति लौकिक होनेसे प्रमाणभूत नहीं हैं. हमनॄ जो कहा है वह विद्वानॄने लौकिक युक्तिसे सिद्ध नहीं किया है, किन्तु शास्त्रदृष्टिसे अर्थात् जो शास्त्रॄमॄ कहा है उसको देखकर ही कहा है, अतः वही प्रमाणभूत समझ हमने कहा है. इससे कर्ता और साधन दोनॄका उत्कर्ष निरूपण किया है. किञ्च वह सुगम योग है. क्यॄकि, शरीर क्लेशकी अपेक्षा बहिरंग है, और विशेष, यह जो हम लोगॄने कहा है, वह 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' इस श्रुतिके अनुसार धर्म(कर्म) कहा है, न कि भक्ति कही है, यज्ञ द्वारा कर्म नाश होता है यह आगे कहा जायेगा, धर्मपनसे क्या होगा ? जिसके उत्तरमॄ कहते है कि 'धर्म' आत्म सुख देता है, इसको कर्मनाशक माना गया है आत्म सुखजनक है, यह तो अधिक है यॄ जानना।।३६।।

आभासार्थ : जबकि दूसरे मार्ग भी विद्यमान है तो कैसे यह ही प्रमाण समझ कर कहा ? यदि यॄ कहा जाए तो इसका उत्तर निम्न श्लोकमॄ देते हैं :

अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः ।
यच्छ्रद्धयाप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषम् ।।३७।।

श्लोकार्थ : न्यायसे इकट्ठे किये हुए धनसे श्रद्धापूर्वक ईश्वरका यज्ञादिसे पूजन करना यह ही गृहस्थी द्विजातिकेलिए कल्याणका मार्ग है।।३७।।

व्याख्यार्थ : गृहस्थीकेलिए यह ही मार्ग कल्याणकारी है, दूसरे सब मार्ग गृहस्थ धर्मको तोड़नेवाले हैं, 'यदनुचरितलीला' इत्यादिमॄ निरूपण किये है, अतः

यह ही मार्ग है जो गृहस्थको गृहमृ स्थापित करता है. किञ्च, इस धर्ममृ द्विजाति मात्रको अधिकार है, दूसरृमृ तो अन्य भी हैं जैसे, बीज और संस्कार आदिसे अधिकार[१] प्राप्त अधिकारी चाहिए. इस प्रकार सिद्धकर निश्चित और जो उत्तम है उसको कहते हैं, 'यच्छ्रद्धया'[२] अपने आप इकठ्ठे किए हुए, हितकारी तथा सत्य मार्गसे कमाए हुए पवित्र धनसे यज्ञपुरुषका श्रद्धासे यजन करे, यों जो मार्ग है वह ही इसकेलिए उचित है, इस प्रकार सम्बन्ध है।।३७।।

१.ज्ञानमार्गमृ पञ्चाग्नि विद्यासे साधित देह चाहिये और भक्तिमार्गमृ अलौकिक देह चाहिये. ऐसे देहवाले ही उन मार्गोंमृ अधिकारी हो सकते हैं.

२.भ'वित्त' अर्थात् धन, इस पदका भावार्थ है कि धन हितकारी और रक्षक है. यच्छ्रद्धया कहते हैं.

आभासार्थ : इस यज्ञद्वारा भगवान्के पूजनको कर्म निर्हार कैसे? इसका उत्तर 'वित्तैषणां' श्लोकसे देते हैं :

वित्तैषणां यज्ञदानैर्गृहैर्दारसुतैषणाम्।
आत्मलोकेषणां देव कालेन विसृजेद्बुधः।
ग्रामे त्यक्तैषणाः सर्वे ययुर्धीरास्तपोवनम्।।३८।।

श्लोकार्थ : जिसके मनमृ धनकी आशा हो, अर्थात् जो धनवान् होना चाहता है उसको इस आशाको त्यागनेकेलिए प्रथम धन शुद्ध रीतिसे कमाना चाहिए, धन इकट्ठा होनेके बाद उससे मोह निकालनेकेलिए वह धन, यज्ञ और दान आदिमृ खर्च करना चाहिए, जिससे आशा मोहका नाश हो जावे. जिसको स्त्री व पुत्रकी कामना हो, उसको गृहस्थी हो, पुत्र आदि प्राप्तकर उनसे व्यवहार सुखादिका अनुभवकर उनसे ईषणा(कामना)का त्याग करना चाहिए. हे देव! स्वर्गादिलोककी कामनाको स्वर्गमृ जाकर वहांके सुख भोग कालसे लौट आनेसे उस ईषणाको बुद्ध पुरुष छोड़ दे. इस प्रकार ग्राममृ रहते हुए ईषणाॠका त्यागकर बहुत धीर पुरुष तपोवनमृ प्रविष्ट हुए हैं।।३८।।

व्याख्यार्थ : कर्म बन्धन न हो, जिसकेलिए तीन प्रकारकी ईषणाॠका त्याग करना चाहिए. ईषणा अर्थात् कामनाएं, इनके द्वारा ही कर्म, बन्धनमृ डालता है. कामना न हो तो कर्मका स्वतः अभाव हो जाता है, फिर बन्धनका प्रश्न ही नहीं रहता है. लोकमृ वित्तैषणा, दारेषणा, लोकेषणा, याॠ तीन प्रकारकी ईषणाएं हैं इन तीनॠका त्याग कैसे हो? जिनके त्यागका प्रकार बताते हैं

वित्तेषणाको यज्ञ और दानादिसे नष्ट करे, जिसको धनकी बहुत इच्छा है उसको चाहिए कि वित्तका उपार्जनकर यज्ञ और दानादि करे, जिससे धनका बहुत कार्योंमॅू फैल जानेसे उसकी आशा स्वतः निवृत्त होती जाएगी. वह यज्ञ, दानरूप कर्म अदृष्ट द्वारा भी अन्तःकरणकी शुद्धिको कर कामनाको निवृत्त कर देता है. पश्चात् यदि स्त्री और पुत्रकी चाहना हो, तो गृहस्थाश्रमी बनकर उस चाहनाको हटाना चाहिए क्यॉूकि, गृहस्थाश्रममॅू स्त्री पुत्र आदिका व्यवहार अनेक प्रकारका होता है, जिसका अनुभव करते हुए मनुष्य ऊब जाता है. जिससे उसकी कामना धीरे-धीरे स्वतः मिट जाती है. जो बुध अर्थात् पण्डित हैं, व स्वर्ग आदि लोकॉूकी कामनाको, वहां कुछ समय रहकर देवताओॅूसे क्रीडा करते हुए वहांका सुख भोग पश्चात् उसको त्याग दॅू, वहां वैराग्य केवल ज्ञानसे सिद्ध होता है, अतएव वेदमॅू स्वर्गकेलिए ही यज्ञॉूका करना लिखा है, दूसरे दो, तो प्रसंगसे ही आएंगे. स्त्री और धनके सिवाय यज्ञ हो नहीं सकता है, अत एव स्त्रियॉूका अधिकार शरीरमॅू प्रवेश कहा है, और धनका क्रियामॅू प्रवेश कहा है अर्थात् स्त्री होने पर ही पुरुषॉूको यज्ञ करनेका अधिकार प्राप्त होता है. धन होनेसे ही यज्ञका कार्य सिद्ध होता है, यॉू नहीं होता तो वेदमॅू मानस यज्ञ ही कहे जाते थे, अन्यथा 'श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाद्' इस वाक्यसे द्रव्य यज्ञॉूके अधमपन होनेसे उसका प्रतिपादक वेद विरुद्ध हो जाए, मुनि वेदका यही तात्पर्य मानते हैं, अत एव आत्मसुख देनेवाला धर्म है, इसलिए स्वर्गात्मक यज्ञकेलिए ही त्याग करना चाहिए यों यथाश्रुत श्रुतिका समर्थन किया है. इस कारणसे, आश्रम धर्मोंकी भी विधि है यॉू कहनेकेलिए गार्हस्थ्य विधिका यही प्रयोजन है वह बताते हैं कि ग्राममॅू ही रहकर ईषणा(कामनाओॅू)का त्याग करना चाहिए. इससे यह जताया कि पूर्वजन्ममॅू त्याग करनेसे स्वर्ग मिला. वहां रहकर लोक विराग पाकर फिर आके गार्हस्थ्य ही अंगत्व होनेसे, पहले स्त्री और स्वर्ग तथा लोकॉूकी जो आकांक्षा थी, उसके मिट जानेसे प्रधानतासे व्यवहारकर, उन तीन ईषणाओॅूका त्याग तथा चित्तकी शुद्धिके अभावमॅू मनकी विक्षिप्तता होते हुए भी धैर्य धारणकर, सम्यक् चित शुद्धिकेलिए, फिर जानेसे क्लेशको त्यागकर तपोवनमॅू ही प्रवेश किया. तपस्यासे ही चित्तकी शुद्धि होगी, यॉू जो कोई एक जन्ममॅू ही हो जाएगा इस प्रकार विचारते हैं, वे विचाणीय है. अर्थात् इनके इस सिद्धान्त पर विचार करना चाहिए कि, यह कहां सत्य सिद्ध होता है. हे देव! यह वसुदेवकेलिए

संबोधन है, 'कालेन' पदसे कोई अन्य उपाय नहीं है, या कहते हैं. क्योंकि उनकी लोकेषणा ही निवृत्त नहीं हुई है, तो सब ईषणाओंका परित्याग कैसे होगा? 'बुध' पदसे यह बताया है कि ज्ञानसे ही उनकी निवृत्ति होती है. अन्यत्र भी तुल्य है, पहले यज्ञोंकी कर्तव्यता ईषणाओंके परित्यागकेलिए कही है, उनके द्वारा वह कर्म निर्हरणके अर्थवाली होगी।।३८।।

आभासार्थ : अब 'ऋणैस्त्रिभिः' श्लोकसे ऋणोंके भारको उत्तारने केलिए यज्ञ करना चाहिए या कहते हैं :

ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षिपितणां प्रभो।
यज्ञाध्ययनदानैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन्पतेत् ।।३९।।

श्लोकार्थ : हे वसुदेवजी! द्विज, तीन ऋणोंको लेकर जन्मा है १. देव २. ऋषि और ३. पितरोंका, इन तीन ऋणोंको यज्ञ, वेदाध्ययन और दान द्वारा न उतारकर या ही जो वनमें चला जाता है उसका पतन होता है।।३९।।

व्याख्यार्थ : ब्राह्मण जन्मते ही तीन ऋणोंवाला बनता है, या श्रुति कहती है वे ऋण बताते है १.देवऋण[१] २.ऋषिऋण ३.पितृऋण. इन तीनोंको इस प्रकार उतारना चाहिए, ब्रह्मचर्य[२] धारणकर वेद आदि पढ़कर ऋषिऋण उतारना चाहिए, यज्ञोंको कर देवऋणसे मुक्त होना चाहिए, प्रजा पैदाकर पितृऋणसे मुक्ति पानी चाहिए, यहां मुनियोंने दानसे, पितृऋणसे मुक्ति पानी कही है, जिसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि यहां दानका तात्पर्य सन्तति उत्पन्न कर देना, यह दानका आशय है, कोई कहते हैं कि 'दान'का तात्पर्य पिण्डदान है, पिण्डदान करना पुत्रोंका कर्तव्य है, यह फलसे निरूपण किया है. जिनकी फिर ईषणाएं छुट भी गई हैं उनके ये तीन ऋण नहीं उतरते हैं, यो मुख्यपक्षमें गृहस्थके बाद ही संन्यासकी आज्ञा है. इस मतको लेकर कहते हैं कि इन ऋणोंको न उतार कर जो संन्यास लेता है वा वानप्रस्थी बनता है उसका पतन होता है. इसीलिए मनुने भी कहा है कि तीन ऋणोंको उतारकर मोक्षमें मन[३] लगावे. यदि या हो तो ''ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्'' इत्यादि श्रुतियोंका निर्णय कैसे होगा? इस पर कहते हैं कि इसका निर्णय या होगा, ईषणाओंका अभाव और ऋणोंका अभाव मोक्षसे प्रथम होनेवाले हैं. एक अधिकारीका विशेषण है और दूसरा प्रतिबन्धकका अभाव है, अर्थात् जिसकी ईषणाएं निवृत्त हो गई हैं, वह अधिकारी है, और जिसने ऋण चुका दिए हैं उसके प्रतिबन्ध मिट गए हैं.

अधिकारीके विशेषण तो विचारणीय है ही प्रतिबन्धक ऋणॄके अभाव हो जाने पर तो भगवद्भजनकी वृद्धि करनेवाले सद्भावमॄ भी कार्य सिद्ध होता है. जैसे 'तदवदानैरेवावदयत' याॄ अंग मात्र कार्यसे भी तीन ऋण उतर जाते हैं, इसी प्रकार केवल ब्रह्मचर्य धारणकर वेद अध्ययनसे भी आगे बहुताॄने ऋणॄसे मुक्ति पाई है. जैसा कि कहा है 'यं यं क्रतुमधीते[४] तेन तेनास्येष्ट भवति भ्रातणामेकजातानाम्'[५] इस वाक्यानुसार भ्राताके पुत्र द्वारा पिण्डदान पितृऋणकी निवृत्ति हो जाती है अथवा दत्तक(गोद) लिए हुए आदि द्वारा पिण्डदानसे भी पितृऋण उतर जाता है इसी प्रकार 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' वाक्यकी सिद्धि हो जाती है, इस कारणसे, जो मुख्य प्रथम अधिकारी है, उसको ऋणॄसे मुक्ति और ईषणाओंसे निवृत्ति लेनी चाहिए, याॄ ऋषियॄने जो कहा है वह सुन्दर अच्छा कहा है।।३६।।

१. जायमानो वै ब्राह्मणास्त्रिभिर्ऋणवान् जायते इतिश्रुति,

२. ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः इति श्रुतिः

३. ऋणाति त्रीव्युपाकृत्य मनो मोक्षे निवेश्यतेत् अनपाकृत्य तास्त्रीस्तु मोक्षामिच्छान् व्रजन्पष:मनुः

४. जिस-जिस वेदको पढ़ता है उस उससे उसका मनोरथ पूर्ण होता है.

५. भ्राताके पुत्र भतीजॄके.

आभासार्थ : इस प्रकार ऋणॄसे मुक्त होनेकी कर्तव्यता कहकर तीन ऋणॄमॄसे दो ऋण तो आपने उतार दिए हैं, शेष देवऋण यज्ञ द्वारा उतार दो ये दो निम्न श्लॄकोसे कहते हैं :

त्वं त्वद्य मुक्तो द्वाभ्यां वै ऋषिपित्रोर्महामते।
यज्ञैर्देवर्णमुन्मुच्य निर्ऋणोऽशरणो भव।।४०।।
वसुदेव भवान्नूनं भक्त्या परमया हरिम्।
जगतामीश्वरं प्रार्चः स यद्वां पुत्रतां गतः।।४१।।

श्लोकार्थ : हे महामते! तुम ऋषि और पितृऋणसे मुक्त हो गए हो, अब यज्ञकर देवऋणसे उन्मुक्त हो जाओ, याॄ करनेसे सर्व ऋणॄके बन्धनसे छूट जाओगे, पश्चात् सब त्याग करना उचित होगा. हे वसुदेव! तुमने जगत्के स्वामी ईश्वरका परमभक्तिसे पूजन किया है जिससे प्रभु तुम्हारा पुत्र बना है।।४०-४१।।

व्याख्यार्थ : तुमने वेद पढे, पुत्र उत्पन्न किए, याॄ ऋषि तथा पितरॄके ऋणसे मुक्त हो गए हो, तुम जड़ नहीं हो, अर्थात् समझदार हो इसलिए आपको

यज्ञ करनेका अधिकार है, अतः यज्ञॄके करनेसे देवॄका ऋण उतारकर उऋण हो पीछे सर्व परित्याग करनेमॄ मन लगाओ. त्यागी ही अग्नि और अनिकेत होता है, इसी भांति, यज्ञके करनेका तीन तरह उपदेश दिया है. ईषणाओॄके त्याग, कर्मके नष्ट हो जानेकेलिए तथा पितृऋण चुकानेके वास्ते, भगवान् आपके हुए. इसलिए उनके पुजनकेलिए यज्ञ करने चाहिए यो आगेके श्लोकसे कोई कहते हैं. दूसरे कहते हैं, कि तुम्हॄ तो देवऋण है ही नहीं, क्योॄकि तुमने जगतॄके ईश्वरकी पूजा की है जिससे वे तुम्हारे पुत्र हो, प्रगट हुए हैं, अतः तुम्हारे यज्ञका विनियोग अन्यत्र नहीं होगा, कर्म मिटानेकेलिए ही तुम्हारा यज्ञ होगा, वास्तवमॄ आप तो कृतार्थ ही हैं तुम्हॄ कर्म मिटानेकी अपेक्षा ही नहीं है, योॄ मूल प्रश्नका उत्तर दिया है. परमा–भक्तिसे पूजे हुए भगवान्, परमप्रीतिके आश्रय स्वयं भी हुए हैं इसलिए ही वे तुम्हारे पुत्र बने हैं, इस प्रकार यज्ञ करने चाहिए, योॄ कहा है।।४०–४१।।

आभासार्थ : यज्ञमॄ ऋत्विज्, ब्राह्मण ही होते हैं, देवॄकी वेदी(यज्ञ स्थली) कुरुक्षेत्र ही हैं, भाग्यसे यहां ऋषि भी आ गए हैं, इसलिए उनका वचन मानकर यज्ञ करने लगे वह 'इति तद्वचनं श्रुत्वा' श्लोकमॄ श्रीशुकदेवजी कहते हैं:

श्रीशुक उवाच

इति तद्वचनं श्रुत्वा वसुदेवो महामनाः।

तानृषीनृत्विजो वव्रे मूर्ध्नानम्य प्रसाद्य च।।४२।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि महामना वसुदेवजीने ऋषियॄके ये वचन सुनकर, उन ऋषियॄको मस्तकसे प्रणाम किया और उनकी स्तुति की, अनन्तर उनको ऋत्विज् बनाया।।४२।।

व्याख्यार्थ : वसुदेवजीको महामना कहनेसे यह सिद्ध किया है, कि ऋषियॄकी यज्ञ करनेकी आज्ञा सुनकर उत्साहसे युक्त हो गए अर्थात् यज्ञ करनेकेलिए तैयार हो गए. सूमॄ(कंजूसॄ)की तरह धन भारी व्यय होगा इससे धन कम हो जाएगा, ऐसा विचार मनमॄ आने नहीं दिया इसलिए वसुदेवजीको 'महामना' कहा है. पहले कहे हुए उपदेश करनेवाले ऋषियॄको ही ऋत्विक बनाया है. 'ओदनं पचति' इसी तरह वरण करनेसे उनको ऋत्विक किए, योॄ अर्थ है, मस्तकसे प्रणाम किया, जिससे उनको वश कर लिया, हमने जिस यज्ञका उपदेश किया है वह याग हम ही ऋत्विग् बनकर करॄ, इस विचारसे ऋषियॄको भी संकोच न हुआ, क्योॄकि उनको प्रसन्नकर वशमॄ कर लिया था. 'च' पदसे यह

सूचित किया है कि स्तुति आदि भी कर, ऋषियोंको प्रसन्नकर वशमें किया ।।४२।।

आभासार्थ : पश्चात् शास्त्रानुसार वरण हो जाने पर द्वैपायन आदि ऋषियोंने उसको यज्ञ करवाया यों 'त एनमृषयो' श्लोकमें वर्णन करते हैं :

त एनमृषयो राजन्वृता धर्मेण धार्मिकः ।
तस्मिन्नयाजयन्क्षेत्रे मखैरुत्तमकल्पकैः ।।४३।।

श्लोकार्थ : हे महाराज! धार्मिकरीतिके अनुसार वरे हुए ऋषि लोग, कुरुक्षेत्रमें धर्मात्मा वसुदेवजीको, उत्तम कल्पयुक्त यज्ञोंसे यजन कराने लगे।।४३।।

व्याख्यार्थ : धर्मपूर्वक ही यज्ञ कराए, न कि उत्कोचन आदिसे यज्ञ कराए, क्योंकि यादव सब वैदिकधर्मसे कर्म करनेमें प्रशंसा किए हुए हैं जिसमें भी वसुदेवको विशेष कहा है, उस ही कुरुक्षेत्रमें यज्ञ करनें लगे, सब यागोंसे कर्म करने लगे. वह कर्म यज्ञ उत्तम कल्पसे किया, कहीं भी अनुकल्प नहीं किया यों अर्थ है।।४३।।

आभासार्थ : वैदिक समृद्धि कहकर 'तद्दीक्षायां' श्लोकमें लौकिक समृद्धि कहते हैं :

तद्दीक्षायां प्रवृत्तायां वृष्णयः पुष्करस्रजः ।
स्नाताः सुवाससो राजन्राजानः सुष्ठ्वलंकृताः ।।४४।।

श्लोकार्थ : जब वसुदेवजीने यज्ञकी दीक्षा ली तब सब यादवोंने कमलमाला धारण की और सब अन्य राजाओंने स्नानकर, सुंदर वस्त्र धारणकर आभूषणोंसे अपनेको अलंकृत किया।।४४।।

व्याख्यार्थ : सब यादवोंने कमलमाला धारण की, अथवा अनुवाद है. इससे उन्होंने अपना भगवान्‌से सारूप्य प्रकट दिखाया, राजा लोग अभ्यंग लगाके स्नानकर, सुन्दर वस्त्र पहन, आभूषणोंसे अलंकृत हुए।।४४।।

तन्महिष्यश्च मुदिता निष्ककण्ठ्यः सुवाससः ।
दीक्षाशालामुपाजग्मुरालिप्ता वस्तुपाणयः ।।४५।।

श्लोकार्थ : उनकी स्त्रियां प्रसन्न हो गलेमें सुवर्णकी मालाएं पहन सुंदर वस्त्र धारणकर, चन्दनादि लगाकर, हाथोंमें भेंट ले यज्ञ शालामें प्रवेश हुई।।४५।।

व्याख्यार्थ : वैसे उनकी रानियां, मनमें प्रसन्न थीं इसलिए 'मुदिता' कहा

है. पुरुषाृसे विशेषता दिखानेकेलिए कहा है, कि गलेमृ स्वर्णकी मालाएं थीं और वस्त्र भी महार्घ्य सुन्दर थे, ओढनीके ऊपर वैसा वस्त्र धारण किया था, चन्दन लगाया था, हाथाृमृ भेट ली हुई थी, ऐसी वे रानियां पतियाृको देखनेकेलिए, वहां प्रवेश हुई, जहां यज्ञकी दीक्षा ली गई थी।।४५।।

आभासार्थ : इस प्रकार मनुष्याृका उत्साह(हलचल) कहकर वाद्याृकी धूमको 'नेदुर्मृदंग' श्लोकसे कहते हैं :

नेदुर्मृदङ्गपटहशङ्खभेर्यानकादयः।
ननृतुर्नटनर्तक्यस्तुष्टुवुः सूतमागधाः।
जगुः सुकण्ठ्यो गन्धर्व्यः संगीतं सहभर्तृकाः ।।४६।।

श्लोकार्थ : मृदंग, पटह, शंख, भेरी और आनक आदि बाजे बजने लगे, नट और नर्तक नृत्य करने लगे, सूत और मागध स्तुति करने लगे, सुस्वर कण्ठवाली गन्धर्वोंकी स्त्रियां पतियाृके साथ गान करने लगीं।।४६।।

व्याख्यार्थ : बाजे नृत्य और गानका निरूपण किया, मध्यमृ सूत मागध और बन्दियाृकी स्तुति, यहां रसकी अधिकता हो इसलिए मुख्यरूपसे स्त्रियाृका गान कहा है, स्त्रियाृकी सभामृ अकेले गानेका निषेध है अतः पतियाृके साथ गान किया याृ कहा।।४६।।

आभासार्थ : याृ लौकिक संभ्रम कहकर 'तमभ्यषिञ्चन्' श्लोकसे यज्ञका प्रकार कहते हैं :

तमभ्यषिञ्चन्विधिवदक्तमभ्यक्तमृत्विजः।
पत्नीभिरष्टादशभिः सोमराजमिवोडुभिः ।।४७।।
ताभिर्दुकूलवलयैर्हारनूपुरकुण्डलैः।
स्वलंकृताभिर्विबभौ दीक्षितोऽजिनसंवृतः ।।४८।।

श्लोकार्थ : तारृके साथ जैसे चन्द्रमाका अभिषेक किया गया था, वैसे ही ऋत्विजृने वसुदेवजीके भी दश दीक्षाआृमृ अंजन लगाने तथा अभ्यंग स्नानके संस्कार किये, पश्चात् अठारह स्त्रियाृने उनका अभिषेक किया. उस समय, दीक्षा धारण किये, मृगचर्म औढ़े वसुदेवजी वस्त्र, कंकण, हार, झांझर और कुण्डल आदि अलंकारोंसे अलंकृत स्त्रियाृके साथ शोभा देने लगे।।४७-४८।।

व्याख्यार्थ : दस दीक्षाआृमृ अंजन और अभ्यञ्जन होता है, पश्चात् संस्कारृसे पवित्र होनेके बाद ऋत्विज्, कल्पमृ कहे प्रकारसे विधिके अनुसार,

उनका अभिषेक करने लगे, अठारह स्त्रियाृके साथ अभिषेकमृ बैठे थे, वे १८ स्त्रियाृमृ कोई भी भोगस्त्री नहीं थी, जैसे चन्द्रमाके सोम यज्ञमृ बहु पत्नियाृका प्रयोग हुआ था वैसे यहां भी है. वे स्त्रियां तो अलंकृत थीं, किन्तु स्वयं अलंकृत थे क्याृकि यज्ञकी दीक्षा ली थी, जिससे कृष्ण मृगचर्म ही धारण किया था, स्त्रियां तो सब प्रकारके वैभव दुपट्टे कंकण आदिसे अलंकृत थीं।।४७-४८।।

आभासार्थ : पश्चात् उनके ऋत्विजाृकी शोभा-वर्णन 'तस्यर्त्विज' श्लोकमृ कहते हैं :

तस्यर्त्विजो महाराज रत्नकौशेयवाससः।
ससदस्या विरेजुस्ते यथा वृत्रहणोऽध्वरे ।।४९।।

श्लोकार्थ : हे महाराज! जिस तरह इन्द्रके यज्ञमृ ऋत्विज् और सभ्य शोभायमान् लगते थे उसी तरह, वसुदेवजीके यज्ञमृ भी रत्न व रेशमी वस्त्र धारण कर ऋत्विज् और सभासद शोभा देने लगे।।४९।।

व्याख्यार्थ : कर्म करनेवाले कदाचित् अलंकृत नहीं थे पश्चात् अलंकाराृका निरूपण किया जाता है, सदस्य सहित सब ही ऋत्विज् शोभा देने लगे. जैसे वृत्रके वधके बाद इन्द्रने बहुत दक्षिणावाला अश्वमेध यज्ञ किया, उसमृ ऋत्विज् भी समृद्ध हुए वैसे ही यहां भी यह आशय है।।४९।।

आभासार्थ : इनका यज्ञ भी इन्द्र और वरुणके यज्ञके समान था याृ साधारणताका निरूपणकर, अब सबसे विशेषता जो इनके यज्ञमृ थी वह निम्न श्लोकमृ बताते हैं :

तदा रामश्च कृष्णश्च स्वैः स्वैर्बन्धुभिरन्वितौ।
रेजतुः स्वसुतैर्दारैर्जीवेशौ स्वविभूतिभिः ।।५०।।

श्लोकार्थ : जैसे जीव और ईश अपनी विभूतिआृसे शोभता है वैसे ही राम और कृष्ण भी अपने-अपने बांधव पुत्र, और स्त्रियाृके साथ शोभा देने लगे।।५०।।

व्याख्यार्थ : उन उनके सम्बन्धी बहुत थे, उसलिए दो 'च'कार दिए हैं, पुत्र और स्त्रियाृ सहित राम और कृष्ण थे, एक जीव दूसरा ईश अथवा दोनाृ जीवाृके नियामक हैं. पूर्वमृ कही हुई दारा आदि उनकी विभूतियां हैं अथवा अलग विभूतियां तामसी और सात्त्विक हैं।।५०।।

आभासार्थ : इस प्रकार संभ्रम कहकर 'ईजेऽनुयज्ञ' श्लोकमृ कहते हैं कि

ऐसे बहुत यज्ञ किये :

इजेऽनुयज्ञं विधिना अग्निहोत्रादिलक्षणैः ।
प्राकृतैर्वैकृतैर्यज्ञैर्द्रव्यज्ञानक्रियेश्वरम् ।।५१।।

श्लोकार्थ : प्रत्येक यज्ञमें विधि सहित अग्निहोत्रादिक प्रकृति और विकृतिरूप यज्ञसे द्रव्य, मंत्र और कर्मोंके ईश्वर विष्णुको पूजने लगे।।५१।।

व्याख्यार्थ : वसुदेवजीने अग्निहोत्र आदि नामवाले दूसरे भी यज्ञ द्वारा ईश्वरका विधिवत् पूजन किया. अग्निहोत्र प्राकृत नामसे प्रसिद्ध है, कुण्डपायिआदिके अयनस्थकालमें पयसे अग्निहोत्र अथवा अन्य द्रव्यसे अग्निहोत्र वैसे ही दर्शपूर्णमाससे पृथक् इष्टियां वैकृत नामयज्ञ हैं. निरूढ (जिन पशुआका यज्ञमें विधान है)से दूसरे पशु वैकृत हैं. इस प्रकार सोमयज्ञमें भी सर्वत्र प्रकृति विकृति भाव है. सर्व प्रकारके यज्ञसे भगवान्का ही यजन किया, उसमें कारण द्रव्य आधिभौतिक है, ज्ञान आधिदैविक है और क्रिया आध्यात्मिकी है, इन तीनका भी ईश्वर भगवान् है, इस कारणसे इन तीनसे भगवान् ही पूजे जाते हैं, यह उचित है. इससे इसमें(वसुदेवजी) सामान्य यज्ञ ही किए, न कि प्रसिद्ध बड़े राजसूय आदि यज्ञ किए।।५१।।

आभासार्थ : जो दक्षिणा दी, उसका वर्णन करते हैं :

अथर्त्विग्भ्योऽददात् काले यथाम्नायं स दक्षिणाः ।
स्वलंकृतेभ्योऽलंकृत्य गोभूकन्या महाधनाः ।।५२।।
पत्नीसंयाजावभृथ्यैश्चरित्वा ते महर्षयः ।
सस्नू रामह्रदे विप्रा यजमानपुरःसराः ।।५३।।

श्लोकार्थ : फिर शास्त्रकी विधिके अनुसार ऋत्विजोंको भलीभांति अलंकृत कराके समय पर बहुत धनवाली दक्षिणा सहित, गौ, पृथ्वी और कन्याएं दी, पत्नीसंयाज और अवभृथ स्नानकी क्रिया कराके यजमानको साथ ले महर्षि और ब्राह्मणोंने परशुरामजीके ह्रद(कुण्ड)में स्नान किया।।५२-५३।।

व्याख्यार्थ : जगत्में यह प्रसिद्ध है, कि दक्षिणा और दान मनुष्योंके उत्कर्षका कारण है, अर्थात् ब्राह्मणोंको दक्षिणा और दान देनेवालेका यश बढ़ता है, इसलिए इस विषयको पृथक् कहा है. वेदमें जिस समय यों करना कहा है, उस समयमें ही किया. यद्यपि ऋत्विज् पहलेसे ही अलंकृत थे, तो भी फिर दक्षिणाङ्गके कारण अलंकृत किए, वहां 'भूमि' दक्षिणाङ्गसे देनेको कहा है. जैसा

कि 'उर्वरा प्रतिष्ठिताय देया' योग्यको खेतीके योग्य पृथ्वी देनी चाहिए, वैसे ही देवविवाहमूं कर्म करनेवाले ऋत्विज्को कन्या देनी चाहिए. कन्या भी अन्य कुछ दक्षिणाआूंके साथ देनी चाहिए, इसके अनन्तर पहलेकी तरह ही पृथक् पत्नीसंयाज और यज्ञान्त स्नान कर्म कराए, महर्षि कराते हैं जिसमूं कहीं भी अनुशय नहीं हैं, अर्थ सिद्ध होनेसे बादमूं यजमानको आगे कर, सब ऋषि आदिने रामह्रदूं(कुण्डूं)मूं स्नान किया।।५२-५३।।

आभासार्थ : 'नानालंकारवासांसी' श्लोकसे स्नानोत्सव कहते हैं :

नानालंकारवासांसि बन्दिभ्योऽदात्तथा स्त्रियः।
ततः स्वलंकृतो वर्णानाश्वभ्योऽन्नेनापूजयत्।।५४।।
बन्धून्सदारान्ससुतान्पारिबर्हेण भूयसा।
विदर्भकोसलकुरून्काशिकेकयसृञ्जयान्।।५५।।
सदस्यर्त्विक्सुरगणान्नृभूतपितृचारणान्।
श्रीनिकेतमनुज्ञाप्य शंसन्तः प्रययुः क्रतुम्।।५६।।

श्लोकार्थ : स्त्रियांूने स्नानकर अनेक प्रकारके अलंकार तथा वस्त्र धारण किये तथा वसुदेवजीने भी, पश्चात् दोनांूने बंदीजनोंको अलंकार वस्त्र दिए. सब वर्णोंको और श्वान पर्यन्त पशुआूंको भी अन्न भोजन दिया, बंधु, उनकी स्त्रियां, उनके पुत्र, सभासद, ऋत्विज्, देवगण, मनुष्य, भूत, पितर, चारण तथा विदर्भ, कोशल, कुरू, काशी, केकय एवं सृंजय वंशी क्षत्रियांूको बहुत पारितोषिक दे, उनका भी सत्कार किया, फिर भगवान्से आज्ञा ले यज्ञकी प्रशंसा करते हुए ये भी वहांसे रवाना हुए।।५४-५६।।

व्याख्यार्थ : यजमान वसुदेवजी और उनकी स्त्रियां भी यज्ञान्त स्नानकर वहांसे उठकर आके, पहले अपने आपको वस्त्र एवं अलंकारांूसे सुसज्जित किया. फिर सबका पूजन किया, जिसका वर्णन करते हैं कि मनुष्यांूसे लेकर कुत्तांू तक अन्न भोजनसे पूजे गए. बान्धवांूको पारितोषक देकर पूजा. बान्धवांूकी गणना करते हैं, विदर्भसे लेकर सृंजय तक, वैसे सदस्य, ऋत्विज् और देवगणका भी सत्कार किया. अन्नसे भी तृप्त किया यांू पाठ है, पश्चात् वे सब भगवान्से आज्ञा ले, यज्ञकी प्रशंसा करते हुए रवाना हुए।।५४-५६।।

आभासार्थ : साधारणांूका जाना कहकर अब 'धृतराष्ट्रोनुज' श्लोकसे प्रसिद्धांूके जानेका वर्णन करते हैं :

धृतराष्ट्रोऽनुजः पार्था भीष्मो द्रोणः पृथा यमौ ।
नारदो भगवान् व्यासः सुहृत्संबन्धिबान्धवा ।।५७।।
बन्धून्परिष्वज्य यदून्सौहृदाक्लिन्नचेतसः ।
ययुर्विरहकृच्छ्रेण स्वदेशांश्चापरे जनाः ।।५८।।

श्लोकार्थ : धृतराष्ट्र, विदुर, पाण्डव, भीष्म, द्रोण, कुन्ती, नकुल, सहदेव, नारद, भगवान् व्यास, मित्र, सम्बन्धी और बांधव, ये सब अपने यादवॄसे आलिंगनकर, स्नेहसे आर्द्रीभूत हृदयवाले हो गए क्यॄकि बिछुड़नेका कष्ट सहन न कर सके, विवश(लाचार) होके अपने अपने देशको दूसरे लोग भी वहांसे रवाना हुए।।५७-५८।।

व्याख्यार्थ : 'अनुज'से विदुर कहा है, 'पार्था'से पाण्डव कहॄ है, 'यमौ'से नकुल सहदेव कहे हैं. ये क्षत्रिय, सम्बन्धी थे, बादमॄ देव, ऋषि आदि सम्बन्धियॄको कहते हैं, नारद और भगवान् व्यास, ये सब यादवॄको आलिंगन कर स्नेहके कारण आर्द्रीभूत हृदयवाले हुए कष्टसे अपने अपने देशको गए. जानेके समय विरहसे क्लेशवाले थे।।५७-५८।।

आभासार्थ : इसी भांति सब गए यॄ कहा, नन्दजी भगवान्के विरहको सहन न कर सके, इसलिए नहीं गए अथवा भगवान्के साथ जाएंगे, ऐसी शंका होने पर, वसुदेवजीने नन्दजीके मनको सांत्वना देकर उनको रवाना किया और भगवान्को रोक लिया, यॄ कहनेके वास्ते उनका संवाद निरूपण किया जाता है. 'नन्दस्तु' श्लोकमॄ नन्द स्वतः नहीं गए यह निरूपण करते हैं :

नन्दस्तु सह गोपालैर्बृहत्या पूजयार्चितः ।
कृष्णरामोग्रसेनाद्यैर्न्यवात्सीद्बन्धुवत्सलः ।।५९।।

श्लोकार्थ : श्रीकृष्ण, राम और उग्रसेन आदिने गोप सहित नन्दजीका भी बड़ा सत्कार किया था, फिर बांधवॄके वात्सल्यके कारण उनके साथ वहां ही रहे।।५९।।

व्याख्यार्थ : यज्ञके बाद गोपाल सहित नन्दरायजी भी बड़ी पूजासे पूजित हुए, अथवा पहले ही, पश्चात् राम, कृष्ण उग्रसेन आदिके साथ वहां ही रहे जैसे अन्य यादव परस्पर वात्सल्यवाले थे, जैसे वह भी एक थे इसलिए इनके साथ भेद भाव नहीं था।।५९।।

आभासार्थ : 'वसुदेवोऽञ्जसोत्तीर्य' श्लोकमॄ संवादार्थ प्रसंग कहते हैं :

वसुदेवोऽञ्जसोत्तीर्य मनोरथमहार्णवम्।
सुहृद्वृतः प्रीतमना नन्दमाह करे स्पृशन्।।६०।।

श्लोकार्थ : वसुदेवजी बिना श्रमके मनोरथरूप महासागरको पारकर, प्रसन्नचित्त और मित्रोंसे आवृत्त नन्दरायजीका हाथ पकड़कर उन्हें कहने लगे।।६०।।

व्याख्यार्थ : मनोरथ ही यज्ञ कैसे होगा? इसलिए ही यज्ञरूप महान् समुद्र कहा. समुद्र पद देनेका यही आशय है कि जैसे समुद्रमें नक्र(मगरमच्छ)रूप विघ्न रहते ही हैं, वैसे भी अनेक विघ्नादि नक्र थे, जिनका दमनकर, वसुदेवजी पार पहुंच गए. पश्चात् मित्रोंसे घिरे हुए प्रसन्नचित्त वसुदेवजी, नन्दजीका हाथ पकड़, उन्हें कहने लगे. हस्त पकड़नेके विशेष आशयको स्पष्ट करते हुए कहते हैं, कि वसुदेवजी नन्दजीका हाथ झेलकर उनमें अपने धर्मका आविष्कार किया, जिससे वे(नन्दरायजी) अपना(हमारा) अभिलषित करेंगे, यह सूचित किया।।६०।।

आभासार्थ : वसुदेवजी 'भ्रातरीशकृतः' श्लोकमें उनकी स्तुतिकेलिए अपने ऊपर नन्दजीका किया हुआ उपकार प्रकट करते हैं :

वसुदेव उवाच

भ्रातरीशकृतः पाशो नृणां यः स्नेहसंज्ञितः।
तं दुस्त्यजमहं मन्ये देवानामपि योगिनाम्।।६१।।

श्लोकार्थ : वसुदेवजीने कहा, हे भाई! भगवान्ने मनुष्यों पर जो स्नेह पाश डाल रखा है, जिस जालसे योगी और देव भी अपनेको नहीं छुड़ा सकते हैं।।६१।।

व्याख्यार्थ : मनुष्य भोगासक्त हैं, इस कारणसे, उन्हें स्नेहको छोड़ना अत्यन्त कठिन भासता है. जो ज्ञानी, देव और मोक्षके साधनमें लगे हुए योगी हैं, वे स्नेहका त्याग कर सकते हैं किन्तु अब अपने अनुभवसे जाना गया है, कि उनको भी स्नेह पाशसे अपनेको छुड़ाना कठिन है, अतः बन्धुत्वसे ही आप स्नेह करते हैं. कीजिए, किन्तु इसका प्रतीकार न कीजिए, यह भाव है।।६१।।

आभासार्थ : 'अस्मास्वप्रतिकल्पेयं' श्लोकमें मैत्रीको प्रतिकार रहित कहते हैं :

अस्मास्वप्रतिकल्पेयं यत्कृताज्ञेषु सत्तमैः।
मैत्र्यर्पिताऽफला वापि न निवर्तेत कर्हिचित्।।६२।।

श्लोकार्थ : कृतघ्न जो हम हैं, उन पर जो आप सत्पुरुषाृने स्नेह कर रखा है, उसका बदला हम कभी नहीं दे सकते हैं, तो भी आपका स्नेह हम पर बना ही रहता है, इस बातको हम जानते हैं कि ईश्वरने आप पर स्नेह जाल डाल दिया है।।६२।।

व्याख्यार्थ : आप सत्पुरुषाृने जो हम अज्ञाृ(नासमझाृ)मृ मैत्री स्थापित की है, उसका हम बदला दे नहीं सकते हैं, इस कारणसे वह निष्फल है. 'वा' शब्द अनादरमृ है, यह आपकी की हुई मैत्री सफल हो चाहे असफल हो, किन्तु छूटती नहीं है।।६२।।

आभासार्थ : 'प्रागकल्पास्तु' श्लोकमृ बदला न मिलना और मैत्रीकी स्थापना दोनाृ कहते हैं :

प्रागकल्पास्तु कुशलं भ्रातर्वो नाचरामहि।
अधुना श्रीमदान्धाक्षा न पश्यामः पुरः सतः ।।६३।।

श्लोकार्थ : हे भाई! पहले तो हम असमर्थ थे, जिससे आपकी की हुई मैत्री व उपकारका बदला न दे सके, किन्तु अब लक्ष्मीके मदसे अन्धे हो गए हैं, जिससे सामने स्थित उपकारी सत्पुरुषको मानाृ देखते ही नहीं है।।६३।।

व्याख्यार्थ : मैत्री क्रियाका पूरा बदला न दे सकते, तो थोड़ा भी देना चाहिए था, जैसी भी शक्ति होवे. थोड़ा सा भी न कर सकनेमृ कारण देते हैं कि तब न कंस मरा था और न द्वारका गए थे. तब हम सर्वथा असमर्थ थे, अतः कुछ न कर सके. 'हे भाई' सम्बोधन देनेका आशय है कि हमको प्रत्युपकार करना ही चाहिए, याृ करना आवश्यक है. 'अस्तु' तब नहीं किया, अब तो कंस मर गया, सब विघ्न टले, अब तो करो. जिसके उत्तरमृ कहते हैं कि राज्य मिल गया है, उपकारका बदला देनेमृ समर्थ है, यह सत्य है, किन्तु लक्ष्मीके मदसे अन्धे हो गए हैं, उपकार करनेवाले सत्पुरुष सामने स्थित हैं, तो भी मानाृ उनको देखते ही नहीं हैं, अतः अब भी नहीं कर सकते हैं. धर्मोंके देखनेके बाद ही वहां बदलेकी सम्भावना होगी।।६३।।

आभासार्थ : तो उचित क्या है? इस आकांक्षाका निर्णय 'मा राज्यश्रीः' श्लोकमृ करते हैं :

मा राज्यश्रीरभूत्पुंसः श्रेयस्कामस्य मानद।
सुजनानुत बन्धूश्च न पश्यति ययाऽन्धदृक् ।।६४।।

श्लोकार्थ : हे मानद! श्रेयकी कामनावाले पुरुषॄको राज्य और श्री नहीं होनी चाहिए, क्यॄकि जैसे अन्धा सत्पुरुषॄको और बांधवॄको नहीं देख सकता है, वैसे वह भी नहीं देख सकता है।।६४।।

व्याख्यार्थ : दरिद्रता(गरीबी) और राज्यश्रीकी प्राप्ति दोनॄ अवस्थाओंमॄ बदला नहीं चुकाया जा सकता है. फिर भी राज्यश्रीसे दरिद्रता अच्छी है, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति दोनॄकी आवश्यकता है, किन्तु वे तब अच्छी हितकारिणी होती हैं, जब उनके साथ ज्ञान-शक्ति भी होवे, कि क्रियाशक्ति सम्पत्तिके विद्यमान होनेकी अवस्थामॄ ज्ञान-शक्तिके साथ न होनेसे व्यर्थ है, जिसका भावार्थ है कि यदि सम्पत्तिके होने पर कार्य(बदला देने) करनेकी शक्ति है, किन्तु ज्ञानके अभावॄमॄ वह शक्ति कुछ कर ही नहीं सकती है.

अतः इस प्रकार अन्तर होता है, जिससे श्रेय चाहनेवाले पुरुषको राज्यश्री न होवे, तो अच्छा है. मान देनेवालेको 'मानद' कहा जाता है, आप हमको सदैव मान देते हैं. राज्यका क्या दोष? यदि यॄ कहो तो इसका उत्तर यह है कि जिस राज्यश्रीसे पुरुष अन्धा हो जाता है, वह राज्यश्री नहीं चाहिए, कारण कि इससे वह अपने सत्पुरुष और बान्धवॄको नहीं देख सकता है।।६४।।

आभासार्थ : इसी तरह अपने दोष प्रकटकर और नन्दजीके गुण प्रकट किये, बादमॄ स्नेह बढ़ आनेसे रोने लगे, जिसका वर्णन 'एवं' श्लोकमॄ करते हैं :

श्रीशुक उवाच

एवं सौहृदशैथिल्यचित्त आनकदुन्दुभिः।
रुरोद तत्कृतां मैत्रीं स्मरन्नश्रुविलोचनः ।।६५।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि इसी तरह स्नेहसे शिथिल चित्तवाले वसुदेवजीके नेत्रोंमॄ आंसू आ गए, श्रीनन्दरायजीके उपकार स्मरण करते हुए रोने लगे।।६५।।

व्याख्यार्थ : वसुदेवजीने जो रोदन किया, उसका आशय यह था कि मैंने जो कहा है, वह केवल मुखसे दिखानेकेलिए नहीं कहा है, किन्तु मानसिकभावसे कहा है. यदि रोते नहीं, तो यॄ समझा जाता कि यह कहना केवल दिखावा है, इस शंकाको रोनेसे मिटा दिया. वसुदेवजीका चित्त सौहार्द्रसे शिथिल हो गया था, क्यॄकि बहुत सुन्दर बुद्धिवाले हैं, तब ही कंससे भगवान्‌की रक्षा की है, नन्दसे अपने घरमॄ लानेमॄ कौनसा प्रयास है, यॄ कहनेका भाव है कि नन्दजीने भगवान्‌के

पालनरूप अनुग्रहको किया है, यह ही मैत्री है, जिससे आंसूआृसे नेत्राृमृ जल भर गया, इससे वसुदेवजीको नन्दजीके उपकारका बदला न चुका सकनेका सहज दुःख है, यह निरूपण किया।।६५।।

नन्दस्तु सख्युः प्रियकृत्प्रेम्णा गोविन्दरामयोः।
अद्य श्व इति मासांस्त्रीन्यदुभिर्मानितोऽवसत्।।६६।।

श्लोकार्थ : नन्दरायजी यादवाृसे मान पाकर, अपने मित्र वसुदेवजीको प्रसन्न करते हुए, राम-कृष्णके प्रेमसे आज-कल रवाना होऊंगा, याृ करते हुए, तीन महीनाृ तक वहीं रहे।।६६।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार मित्रका प्रिय करनेवाले नन्दरायजी स्नेहपाशमृ फंस जानेके कारण श्रीकृष्ण और रामके प्रेमसे आज जाऊंगा, कल जाऊंगा, याृ कहते हुए, तीन मास वहीं रहे, नित्य प्रति ही यादवाृसे सत्कार पाते थे, अतः तीन मास स्वभावसे ही रहे, इसलिए आज-कल कहते हुए तीन मास पूरे हो गए।।६६।।

ततः कामैः पूर्यमाणः सव्रजः सहबान्धवः।
पराध्र्याभरणक्षौमनानानर्घ्यपरिच्छदैः।।६७।।

श्लोकार्थ : फिर अमूल्य आभूषण, रेशमी वस्त्र और अनेक प्रकारके सब सामान ले, मनवाञ्छित कामनाको पूर्णकर, नन्दरायजी गोप और बांधवाृको संग ले(नीचे श्लोकसे सम्बन्ध है)।।६७।।

व्याख्यार्थ : याृ माघसे आषाढ़ पर्यन्त रहकर पश्चात् भगवान्से अनेक प्रकारकी कामनाएं पूर्णकर, गोप और बान्धयाृके साथ काम्य(जो अभिलषित पदार्थ मिले, उनकी) पदार्थोंकी गणना करते हैं-अमूल्य आभूषण, रेशमी वस्त्र, सुन्दर गृहकी सामग्री।।६७।।

आभासार्थ : उपरोक्त सामग्री हर एकको बहुताृने दी, उनकी गणना 'वसुदेवोग्र' श्लोकसे कहते हैं :

वसुदेवोग्रसेनाभ्यां कृष्णोद्धवबलादिभिः।
दत्तमादाय पारिबर्हं यापितो यदुभिर्ययौ।।६८।।

श्लोकार्थ : वसुदेवजी, उग्रसेनजी, कृष्ण, उद्धवजी और बलरामजी आदि यादवसे दिया हुआ पारिबर्ह(पहरावनी)से रवाना हुए।।६८।।

व्याख्यार्थ : मुख्यरूपसे पांच गिने. उग्रसेन, राजा वसुदेवजीकी तरह

उनको भी भगवान्ने जेलसे छुड़ाया था. उद्धवजी भी बहुत कालसे उनके घरमृ रहे थे. 'बल' शब्दसे बलभद्र और 'आदि' शब्दसे देवकी इत्यादि लेनी चाहिए, इन्हृसे दी हुई पहरावनियां लेकर दूर जाकर जिसकी जो थी, वह बांटकर ले ली, पश्चात् वहांसे रवाना हुए।।६८।।

आभासार्थ : ये नन्दरायजी सब लेकर ही जा रहे हैं, आपने तो कुछ भी नहीं दिया, यृ शंकाकर 'नन्दो गोप्यश्च' श्लोकमृ उत्तर देते हैं :

नन्दो गोप्यश्च गोपाश्च गोविन्दचरणाम्बुजे।
मनः क्षिप्तं पुनर्हर्तुमशक्ता मथुरां ययुः ।।६९।।

श्लोकार्थ : नन्द और गोपियृने तथा गोपृने इन दोनृने समृद्धिकेलिए अपना मन भगवान्के चरणृमृ धर दिया, वहां अति पुष्ट हो जानेसे फिर निकलनेमृ समर्थ न हुए, अतः माथुर देशृको ही गए, मनके निमित्त ही सब कुछ दिया जाता है, नन्दादिकृका मन तो भगवान्मृ ही है, अतः नन्द आदिका ही सबसे विशेष द्रव्य यहां पड़ा हुआ रह गया है।।६९।।

व्याख्यार्थ : नन्द तथा गोपियां एक पंक्तिके हैं, गोप दूसरी पंक्तिके हैं. गोविन्द भगवान्के दोनृ चरणकमलृमृ समृद्ध्यर्थ लगाए हुए मनको वहांसे हटा लेनेमृ असमर्थ थे, क्यृकि चित्त उनमृ बहुत पुष्ट(मजबूत, पक्का) हो गया है, अत: मथुराके सम्बन्ध(निकट)वाले देशको गए, मनके निमित्त ही सब कुछ दिया जाता है. नन्दादिका मन तो भगवान्मृ ही लगा हुआ है, अतः नन्दादिकृका ही बहुत धन यहां धरा हुआ है, यह आशय है।।६९।।

आभासार्थ : पश्चात् जो कुछ हुआ, वह 'बन्धुषु' श्लोकसे कहते हैं :

बन्धुषु प्रतियातेषु वृष्णयः कृष्णदेवताः।
वीक्ष्य प्रावृषमासन्नां ययुर्द्वारवतीं पुनः ।।७०।।

श्लोकार्थ : बांधवृके जाने पर श्रीकृष्णको इष्टदेव माननेवाले यादव भी वर्षाऋतुको निकट जानकर वापिस द्वारका गए।।७०।।

व्याख्यार्थ : सब अपने-अपने देश चले गए, यादव अकेले रह गए, तो भी वहां बहुत समय रहे. बिना किसी भय आदिकी शंकाके रहते थे, क्यृकि उनका सर्वभयहारी श्रीकृष्ण ही देवता थे, श्रीकृष्ण ही जिनकी अलौकिक प्रकारसे रक्षा करते थे, तो भला गए क्यृ? जिसके उत्तरमृ कहते है कि वर्षाऋतु निकट आ गई थी, आनेमृ १४ दिन ही शेष रह गए थे।।७०।।

आभासार्थ : जो यहां नहीं आए थे, उनको यह महान् आनन्द न मिला, इस शंकाको मिटानेकेलिए 'जनेभ्यः' श्लोकमू वह वृत्तान्त मनुष्याूको कहने लगे :

जनेभ्यः कथयांचक्रुर्वसुदेवमहोत्सवम्।
यदासीत्तीर्थयात्रायां सुहृत्संदर्शनादिकम्।।७१।।

श्लोकार्थ : उन्हाूने जाकर सब लोगाूको वसुदेवजीके यज्ञके महोत्सवका समाचार तथा जो कुछ तीर्थयात्रामू मित्राूके दर्शन आदि हुए थे, वह सब वृत्तान्त कहकर सुनाया।।७१।।

व्याख्यार्थ : वसुदेवजीके यज्ञका महान् उत्सव तथा जो मित्राूके दर्शन आदि हुए थे, वह भी इस प्रकार कि जिससे जो सात्त्विक निरुद्ध थे, उनको परमानन्द लक्षणवाला फल दिया, ऐसा उत्सव वहां आकर सबको सुनाया।।७१।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कंधके ८१वृ अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी(संस्कृत–टीका)के सात्त्विक फल
अवान्तर प्रकरणके सप्तम् अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण

सात्त्विक प्रकरण समाप्त.